

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष: 9, अंक: 33, जनवरी-मार्च 2022

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

मूल्य : 100 रुपये

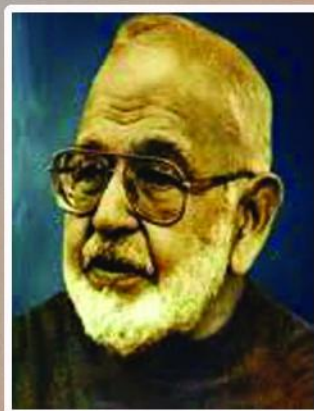


विद्यार्थी मंच

उस पार से

अज्ञेय

(7 मार्च 1911 - 4 अप्रैल 1987)



नीतियाँ सापेक्ष्य हैं। रूढ़ियाँ निरंतर बदलती रहती हैं। अतः नैतिक कसौटियाँ सापेक्ष्य हैं, प्रगति भी सापेक्ष्य है। फलतः आज जो प्रगति है, कल वही प्रति-गति भी हो सकती है। और यदि ऐसी है, तब प्रगतिवादी आलोचक की कसौटियाँ साहित्य की कसौटियाँ नहीं हैं, क्योंकि साहित्य आत्यंतिक होने का दावा करता है, शाश्वत और चिरंतन होने का दावा करता है। वह माँगता है कि जो उस पर निर्णायक बनकर बैठे उसकी कसौटी भी शाश्वत और चिरंतन हो।

- त्रिशंकु

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-9, अंक- 33, जनवरी-मार्च 2022

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : हावड़ा विद्यार्थी मंच
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
 प्रूफ संशोधक : विनोद यादव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)
 डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय
 डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर
 डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
 डॉ. रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनीता लाल, पार्वती शॉ, परमजीत पंडित, सरिता खोवाला एवं बलराम साव (9831889154)

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
 कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश) : 7998837003
 लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदिराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK BURRABAZAR, KOLKATA-700007, IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320,
 9681105070
 ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 500 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-550 रुपये, आजीवन-3000रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

मुक्तांचल जनवरी-मार्च 2022

अवस्थिति

शो ध	6 संस्तुति आलेख :	
	7 श्रीनारायण पाण्डेय 12 रामनिहाल गुंजन 15 अरविंद कुमार	भारतीय स्वाधीनता के 75 वर्ष डॉ. रेवतीरमण का समीक्षकीय विवेक सत्यवती मालिक की कहानियाँ स्मृतियों के गहरे बुने तार
स मी	24 शुभ्रा उपाध्याय	मजरूह सुल्तानपुरी के गीतों में वैविध्य का वैभव: संदर्भ—हिंदुस्तानी फिल्म
	संस्मृति :	
क्ष ण	28 प्रीति सिंह	लता मंगेशकर: सुरों की अमित दास्तान 'तुम मुझे यूँ भूला ना पाओगे'
	30 डॉ. गीता दूबे 35 डॉ. कृष्ण कुमार	मन्नू भंडारी होने का मतलब रमा जोशी संस्मृति
सृ ज न	विमर्श :	
	39 कुमार विश्वबंधु शोधार्थी की कलम से :	शिक्षा में नई प्रौद्योगिकी: नई चुनौतियाँ
सं चा र	44 रेणु चौधरी 47 परमजीत कुमार पंडित	अस्मिता का प्रश्न और स्त्री जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताओं में दलित एवं वंचित जीवन
	55 पीयूष कुमार 59 महात्मा पाण्डेय	राजेश जोशी की कविता में अलंकार—योजना हिंदी की दलित आत्मकथाओं के विशेष संदर्भ में
	कविता :	
	64 पूनम सिंह	सप्तवेदी, बंजर तोड़ने की जिद्दी जिद, ओ मेरे एकांत
	66 उमेश पंकज	मेरे होने से, जो मुट्ठी में है, जो मुट्ठी में है—2

शोध	67 केशव शरण	आज हमारा प्यार, जनपद के एक कोने में, चकित दृग, बीच पुल के
	68 मनोज मिश्र	इंसान नहीं रहा इंसान, पशुत्व बनाम मनुष्यत्व
	69 रेणुका अस्थाना	बावरा मन, समय, दोस्ती
	70 जावेद खान	विद्रोह अंततः एक करुणा है, उम्मीद, दास का सर
समीक्षा	कहानी :	
	71 रूपसिंह चंदेल	पुरस्कार
	77 सुषमा मुनींद्र	ज्ञानपीठ
	82 डॉ.रंजना जायसवाल	खोमचें भर मुहब्बत
ण	86 महेश कुमार केशरी	अंतिम बार
	समीक्षा :	
	89 योगेश तिवारी	ग्लोबल गाँव के दानव
	96 मृत्युंजय पाण्डेय	स्त्री मन की तस्वीर
सृजन	101 डॉ. सुलोचना दास	अथ कोरोना कथा : कोरोजीवी कविताएं
	पुस्तकायन :	
	108 रानी सुमिता	आलोचना के सामानांतर
	112 मुहम्मद जाकिर हुसैन	द रेड साड़ी : सोनिया गांधी की नाटकीय जीवनी
संचार	प्रवासी कलम :	
	117 पूनम सिन्हा	प्रवासी कवयित्री तिथि दानी से पूनम सिन्हा की बातचीत
	साक्षात्कार :	
	120 डॉ. प्रकाश कु. अग्रवाल	साहित्य-संसार में चल रहे पाखंडों की पोल खोलना बहुत जरूरी है : डॉ. पंकज साहा

संस्तुति

साहित्य की खोज में हर्फ-हर्फ अमानवीय होती दुनियाँ से गुजरना रेत और राख के ऐसे ढूँह तक ले जाकर छोड़ देती है जहाँ गर्द और गुबार आँखों में किरिच भर देते हैं.... बस..... ऐसा, कि कुछ न देखो और न ही कुछ सुनो, अगर कुछ महसूस होता है तो उसे उगलने की हिमाकत भी न करो, ऐसे में संवेदना का सैलाब उमड़ता ही रह जाता है और साहित्य की नदी सूखती ही चली जाती है। कितना कठिन और भयावह है इस समय के बाहर झाँकना, हिंसा, रक्तपात, विध्वंस एवं यंत्रणा से पीड़ित मानवता सिसक रही है। ठीक सौ वर्ष पहले टी. एस. एलियट भी ऐसे ही भयावह अनुभव से गुजर रहे थे, उनकी अभिव्यक्ति की आँधी ने 'द वेस्ट लैंड' को रूपायित किया। पाँच खण्डों में लिखी लंबी कविता में 'ग्रेव यार्ड' का खण्ड अवसाद की गहरी तस्वीर उकेरता है, इन दो वर्षों में हमारी दुनियाँ फिर से ग्रेवयार्ड में परिणत होती जा रही है, हम अपने अतीत में मुड़कर सौ वर्ष पहले के हिन्दी साहित्य संसार का सिंहावलोकन करने पर सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि के साथ साथ छायावादी कविताओं की भावसंवलित नई चेतना की गुहार देखते हैं। वर्तमान में प्रक्षेपित विगत का प्रकाश आने वाले दिनों में साहित्य के माध्यम से मानवीय मूल्यों को जन जन तक उजागर करेगा। खौफजदा, स्याह समय नई सुबह का आसमान अवश्य टांकेगा, साहित्य अपनी धार से गर्द और गुबार अवश्य छाँटेगा..... ऐसी ही कोशिश में संलग्न हम और आप नकारात्मक स्थितियों से लड़कर सकारात्मक मुकाम तक अवश्य पहुंचेंगे।

श्री सिन्हा
संपादक

मुक्तचिह्न जनवरी-मार्च 2022 6

भारतीय स्वाधीनता का 75 वर्ष

- श्रीनारायण पाण्डेय

करीब 200 वर्षों तक शासन करने के बाद पूँजीवादी-और उपनिवेशवादी-शासकों से संयुक्त भारत को भारवासियों के हाथों में सौंपा। उसके बाद भारतवर्ष में जनतांत्रिक सरकार का गठन हुआ। उसके 75 वर्ष होने को आए। आज हम उसी के 75 वें वर्ष पर भारतीय स्वतंत्रता का अमृत महोत्सव मना रहे हैं। भारत अंग्रेजी शासक के पहले भी पराधीन रहा है। भारत का प्राचीन युग और मध्य-युग का इतिहास यही कहता है। कहते हैं अंग्रेजों के हाथ सत्ता मुगलों ने बक्स दी थी। यह तो आधुनिक राजनीतिक काल की पृष्ठ भूमि है। प्राचीन काल से ही सत्ता और सांस्कृति का संघर्ष चलता आ रहा है। इस प्रकार चाहे परदेशी कुशासन हो या स्वदेशी-जीवन शैली में आयी विकृतियाँ, इन दोनों से हम पहले से ही सचेत थे, एवं दोनों से मुक्ति के लिए प्रयत्न कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं।

हम जिस स्वतंत्रता का अमृत महोत्सव मना रहे हैं, उसके मूल में 1857 की राजक्रान्ति है, जो अंग्रेजी कुशासन और उत्पीड़न के विरुद्ध की गयी थी। आज वह भारत का 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' नाम से ख्यात है। उन दिनों अंग्रेजों की गुलामी तो थी ही, पाश्चात्य सांस्कृतिक गुलामी भी पाँव पसार रही थी। हमारा स्वाधीनता संग्राम इसी पर देशी औपनिवेशिक, तथा सांस्कृतिक गुलामी एवं स्वदेशी सामाजिक विकृति तीनों के खिलाफ था। 19वीं सदी में नव-जागरण की वो लहर अथवा साहित्य में उसे राष्ट्रीय या राजनीतिक एवं सांस्कृतिक नव जागरण के रूप में जाना जाता है। 1857 की रक्तंजित क्रान्ति के पूर्व उस समय के अत्याचार के विरुद्ध होने वाले संग्रामों को देखते हुये कहा जा सकता है कि आग पहले से सुलग रही थी, जो 57 में प्रज्वलित हो रही थी। यह क्रान्ति इस्ट इंडिया कम्पनी के खिलाफ हुई थी। इससे इतना ही हुआ कि सत्ता कम्पनी के हाथ से वर्तानिया के सरकार के हाथ चली गई। महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र निकला। लोगों ने समझा था कि इससे राहत मिलेगी, मगर कुछ हुआ नहीं। लूट-पाट जारी रही। भारत कंगाल होता रहा, ब्रिटेन धनवान। किन्तु बहुतेरे अभी भी आशान्वित थे।

शिक्षित समुदाय का एक हिस्सा ऐसा था जिसने सरकारी सहयोग से 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। उसका दायरा अरजी और आरजू तक ही था। स्वतंत्र भारत उसके एजेन्डा में नहीं था। 1930 तक धीरे धीरे समाज-सुधार और भारत की स्वतंत्रता उसमें शामिल हुआ। इसमें देश भक्ति और राज-भक्ति दोनों का रंग मिला हुआ था। किन्तु यह बहुत दिनों तक शाकाहारी नहीं रह सका। देखा जाता है कि सरफरोशी की तमन्ना लेकर देशभक्तों के जत्थे भी निकले जो अर्जी-आरजू तक सीमित नही रहे, उन्होंने कुर्बानी का रास्ता अपनाया। अँग्रेसी राज से स्वतंत्र होने के लिये अपना प्राण न्योछावर किया। इधर गांधी जी के आ जाने से काँग्रेस में असहयोग, सत्याग्रह, धरना, भूख-हड़ताल का नया अध्याय जुड़ा। धार्मिक सहिष्णुता, हरिजन उद्धार, किसान-समस्या नारी-समस्या आदि सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के साथ जुड़ गई। गांधी जी को भी 42 में भारत छोड़ो आन्दोलन का एलान करना पड़ा। जो लाख कोशिश के बावजूद अहिंसात्मक नहीं रह सका। 1947 को जो स्वतंत्रता मिली वह यूँही हिंसात्मक और अहिंसात्मक प्रतिरोधों का फल है। इस-आन्दोलन में अंग्रेजी शासन से मुक्ति तथा

प्रतिगामी सामाजिक रीति रिवाजों से मुक्ति दोनों शामिल है।

इस 'स्वतंत्रता' से हम किस प्रकार का भारतवर्ष चाहते थे, यह हमारे स्वतंत्र भारत के निर्माताओं ने संविधान की प्रस्तावना में दिया है— 'हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी पंथ निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने का संकल्प करते हैं।' (कुछ अंश)

आज हमें-परखना है कि हमने 75 वर्षों में इस संकल्प को कितना पूरा किया है। कहना न होगा कि प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जिस धर्मनिरपेक्षता, समाजवादी जन-तांत्रिक स्वतंत्र भारत का शिलान्यास किया था एवं प्रधान मंत्री अटलबिहारी बाजपेयी ने अपनी समन्वयवादी दृष्टि से जिस भव्य-भारत का निर्माण किया वह आज विश्व का सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक देश है। आजाद काल का कुछ 'अशुभ संकट' जरूर आया मगर चन्द दिनों का ही मेहमान रहा। हमारे देशवासियों को और उनके मन-बदल जन-सेवकों को यह याद रखना चाहिये कि, "मझधार से आयी है, ये किस्ती उबार के, रखना मेरे जन-सेबकों इसको सँभाल के।" क्योंकि जिस प्रकार भारत के संविधान को उलटा-पलटा जा रहा है, भय है कहीं संविधान की प्रस्तावना को ही विलोम में ने पलट दिया जाय। किन्तु भरोसा इस बात से है कि इस तूफानी दौर में भी जनता के सेवक उस नौका से सँभाल कर आगे बढ़ रहे हैं।

जहाँ तक समाज-संस्कार की बात है उससे जो संस्कार हुये हैं, जाति-गत भेदभाव को भस्मासुर का सा बरदान मिल गया है। सभी सशक्त होकर पुरुषों की सहयोगी नहीं प्रतिद्वन्द्वी अधिक हो गयी हैं। धर्म की बाह्याडम्बर दिन-दूना, रात चौगुना बढ़ रहा है। महँगायी, बेकारी सरपट दौड़ लगा रही है। किन्तु इस संकट में भी आज देश की विकास की गति में रुकावट नहीं आयी है।

किन्तु खतरा उन राजनीतिज्ञों से जरूर है जो सत्ता और सम्पत्ति के लोभ से जनता का विश्वास अर्जित कर, दल-बदल कर विश्वासघात कर रहे हैं, और बढ़ावा दे रहे हैं। हमारे रामानन्दी-गुरु श्री विष्णुकान्त शास्त्री जी कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो. थे, सांसद थे, हिमाचल और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे, वे राजनीतिज्ञों के बारे में कहा करते थे कि इन्होंने अपनी विश्वसनीयता खोयी है। और शिव, ओंग अम्बर को उद्धृत कर लिखा है—

सुन रहा हूँ, आपके उपदेश गोया,

गीत मीरा के तवायफ की जुवाँ से।।

अगर हमारी स्वतंत्रता को किसी से भय है तो-इन्हीं 'देश-सवको' से जो देश को ताक पर रखकर सत्ता और सम्पत्ति के लिये 'स्वयं-सेवक' बन गये हैं। आज के राजनीतिज्ञों दृष्टि में पहले कुछ नहीं हुआ था। क्या सचमुच स्वतंत्रता के इन 75 वर्ष निकाल दें तो, उन 60 वर्षों में केवल, फीता कटा है, शिलान्यास ही हुआ है। यह सोचने की बात है। आज विश्व में भारत का सम्मान बढ़ा है, देश का भी विकास हो रहा है। हमें तुलसीदास से सीखना होगा।

"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहि आप।" जनता ने सभी प्रमुख दलों को देश-निर्माण का अवसर दिया है, और उन्हें खारिज भी किया है। यह देश सामासिक संस्कृति का देश है। संविधान उसका रक्षक है। उसकी रक्षा का दायित्व जनता और जन-सेवक दोनों पर है। अभी तक भारत का प्रजातंत्र स्वतंत्रता के पथ पर आगे बढ़ रह है। अब तक हमने स्वतंत्रता प्राप्ति और उसके संरक्षण के राजनीतिक पहलू की चर्चा की। उसकी सांस्कृतिक पहलू की अभिव्यक्ति साहित्य में भी हुई है। साहित्य पर भी 57 की क्रान्ति का असर पड़ा था। उसका जोर भारत की सांस्कृतिक पुनर्संरचना पर अधिक था। उसमें भी बदलाव आया। जैसे राजनीति में सांस्कृतिक मुद्दों का समावेश हुआ,

उसी तरह साहित्य में राजनीतिक मुद्दों का।

1857 के बाद सत्ता कम्पनी के हाथ से महारानि विक्टोरिया के हाथ चली गयी। शिक्षित राजनीतिज्ञों को तो था ही, साहित्यकारों को भी अँग्रेजी राज्य की नेकनियत पर विश्वास था। मैं हिन्दी साहित्य की बात कर रहा हूँ। उन्होंने अँग्रेजी राज के सुख-साज की बात कही तो साथ में भारत के धन चले जाने पर दुख भी व्यक्त किया।

अँग्रेज राज सुख-साज सबै अति भारी।

पर धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।

स्वदेश के निर्धन होने की चिन्ता हरिश्चन्द्र की थी, मगर अँगरेज लुटेरे देश छोड़ कर चले जाँय, हम स्वतंत्र होकर अपने देश की उन्नति करें, इसे खुलकर कह नहीं पा रहे थे। क्योंकि 1857 को क्रान्ति का अँगरेजों ने जिस भयावह ढंग से दमन किया था, उससे जनता अत्यन्त भयभीत थी। भारतेन्दु ने लिखा — “निर्भय सिरन हिलाय सकत कोउ भारतवासी।” एक मुकरी में उन्होंने लिखा—

भीतर, भीतर सब इस चूसै,

हँसि हँसि के, तन-मन-धन मुसै।

जाहिर बातन में अति तेज,

क्यों सखि साजन, नहिं अँगरेज।।

इस ‘मुसने’ (लूटपाट) का क्या असर पड़ा उसे भी लिखा कि, “खेती करने वालों की यह दशा है कि लँगोटी लगाकर हाथ में तुम्बा लेकर वे भीख माँगते हैं।” इस तरह अपनी लेखनी से वे अँगरेजी राज के विरुद्ध जनमत तैयार कर रहे थे।

उन्होंने अपने बलिया वाले भाषण में कहा—जो लोग अपने को देश-हितैशी लगाते हों, वह अपने सुख को होम करके, अपने घर और मान का बलिदान करके, कमर कस कर उठे। अपने खराबियों के मूल कारण को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उनको पकड़ कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर कैद करो। इस समय जो-जो बातें तुम्हारी उन्नति

के पथ में कंटक हैं, उन्हें जड़ से खोद कर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ-दौ-सौ मनुष्य बदनाम न होंगे दरिद्र न हो जायेंगे कैद न होंगे, तरंत जान से न मारे जायेंगे, तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।” देश की उन्नति के लिये यह उनका शहीदाना भाषण था।

जैसे हमें आज देश के विकास की चिन्ता है, वैसे ही भारतेन्दु को ‘भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो’ इसकी चिन्ता थी। उन्होंने कहा धर्मान्धता को छोड़ो। जो बातें काल के अनुकूल हो उनको ग्रहण करो। जाति में केरि चोट ऊँचा हो या नीचा उसका आदर कीजिये। छोटी जाति के लोगों का तिरष्कार करे उनका जी न तोड़िये। हिन्दू मुसलमानों से आपस में मेल-जोल के लिए कहा। मुसलमान भाइयों से कहा— “इस हिन्दुस्तान में बस कर हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें, ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बर्ताव करें।” भाई हिन्दुओं से भी कहा— “भाई हिन्दुओं तुम भी मत- मतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामन्त्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी जाति, किसी रंग का हो, सब हिन्दू-हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। — परदेशी वस्तु, और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपने भाषा में उन्नति करो।” भारतेन्दु ने यह सब तब कहा, जब भारतवासी निरभय सिर तक नहीं हिला पा रहे थे।

इस तरह 19 वीं सदी, “अँगरेजों की नेक-नियत और अँगरेजी राज के सुख-साज की प्रशंसा में बीती। परदेशी वस्त्र और परदेशी भाषा हटाने को तो कहा, मगर चाहते हुए भी अँगरेजी शासन हटाने की बात मन ही मन रह गई। सत्तावन में हारे थे, फिर से एक जुट होकर समर में उतरने का आह्वान किया। राजनीति में यह आह्वान तब सुनायी पड़ा जब महामना तिलक ने यह कहा कि, ‘स्वतंत्रता

हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।” तथा जवाहर लाल नेहरू ने काँग्रेस के मंच से कहा कि हमें पूर्ण स्वतंत्रता चाहिए। 42 में गांधी जी को भी कहना पड़ा— ‘अँगरेजो भारत छोड़ो’ अन्त में भारत को खंडित कर 1947 में अँगरेज भारत को स्वतंत्र कर चले गए। उसी स्वतंत्रता का 75वां वर्ष है, जिसके अमृत का हम महोत्सव मना रहे हैं।

हिन्दी साहित्य में नवजागरण का प्रथम चरण भारतेन्दु युग है। इस चरण में अँगरेजी राज की प्रशंसा होती रही। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग जो दूसरा चरण है, उसमें विक्टोरिया के सुशासन की प्रशंसा न कर सुभद्राकुमारी चौहान ने 57 की वीरांगना लक्ष्मीबाई की मर्दानगी की प्रशंसा की।

“हर बोलों, बुन्देलों के मुख, हमने सुनी कहानी थी। खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।” इस युग में तो साहित्य में राष्ट्रीयता की एक धारा ही प्रवाहित हो चली। ‘सरस्वती’ पत्रिका नव-जागरण की पत्रिका बन गयी। द्विवेदी जी ने जान स्टुअर्ट मिल की — ‘लिवरटी’ का ‘स्वाधीनता’ नाम से अनुवाद किया। आजादी का भूत इस तरह सवार हुआ कि आदमी क्या फूल तक कहने लगे—

मुझे तोड़ लेना बनमाली
देना उस पथ पर फेंक
भारत माँ को शीश चढ़ाने
जिस पथ जायें वीर अनेक।

उपन्यास हो या कहानी, नाटक हो या काव्य साहित्यकार सबने साम्राज्यवाद और सामन्ती समाज संरचना और मूल्यों का विरोध करते दिखायी दे रहे हैं। 1917 की अक्तूबर क्रान्ति इसी दौर में हुई। उसके प्रभाव से सरफरोशी की तमन्ना लेकर सर में कफन बाँधकर शहीदों की टोली भी निकल पड़ी। साहित्य में भी समाजवादी उसूलों का प्रभाव पड़ा। हमारे संविधान निर्माताओं ने लोकतांत्रिक गणराज्य के साथ समाजवादी भी जोड़ा।

47 में स्वतंत्रता हासिल हुई। एक संविधान भी बन गया। चुनावी प्रथा के अनुसार सरकार बनी। कुछ चुनावों तक गाड़ी पटरी पर चली। किन्तु बाद में सत्ता और सम्पत्ति के मोह में दल-बदल के दल-दल में फँस गई। आज का प्रजातंत्र इन्हीं के हाथ का खिलौना हो गया है। आज जन तंत्र पर धन तंत्र हावी हो गया है। इसको संविधान का जामा पहना दिया गया है। समाजिक संरचना का ढांचा वहीं से मजबूत हुआ। अन्धविश्वास, धार्मिक उन्माद, पहले से बढ़ा 75 वर्ष में हम वन-वासियों को अपना न बना सके।

नारी पुरुष की संगिनी नहीं प्रतिद्वन्द्वी ही बनकर सामने आयी। अमीरी-गरीबी का अन्तर कमाया मगर देश ने उतना ही गँवाया भी। पर बहुत कुछ पाया भी। और पाने के रास्ते पर चल भी पड़े हैं।

पौराणीक समुद्र-मंथन के समय जो कुछ अच्छा निकला था, वह देवताओं के ही काम आया था, अमृत भी। वह भी उन्हीं के हाथ लगा। निश्चय ही इस अमृत-महोत्सव से जो अमृत निकलेगा वह ‘महाजनो’ नहीं ‘जनो’ के काम आएगा।

स्वतंत्र होने पर भारत का नव-निर्माण किस तरह होगा, संविधान में उसका रेखा-चित्र विद्यमान है। राजनीतिज्ञ उसके शिल्पी बने। सत्ता में जो आया उसने अपने ढंग से बिगाड़ने-बनाने का काम किया। जनता ने उसी तरह उसका समर्थन और विरोध भी किया। स्वतंत्रता हासिल करना ही बड़ी बात नहीं है उसकी रक्षा करना कहीं उससे भी बड़ी बात है। प्रजातंत्र की रक्षा उससे भी कठिन।

प्रेमचन्द ने कहा, “किसी देश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है। थोड़े से जमींदार महाजन या राजपदाधिकारी की सुदृढ़ता से राष्ट्र की सुदृढ़ता नहीं समझी जा सकती।” प्रेमचन्द आजादी के संघर्ष काल के महान लेखक थे। उनकी मृत्यु 36 में ही हो गई थी। स्वतंत्र

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू थे। तबसे अब तक कितने प्रधानमंत्री हुए हैं। कहना न होगा कि अपने अपने नजरिए से भारतीय जनतंत्र की रक्षा की है। सबने मजबूत करने का दावा किया है।

साहित्यकारों ने भी अपने नजरिये से जनतंत्र को देखा। आजाद भरत के प्रथम दौर के जनतंत्र पर केदारनाथ अग्रवाल की कविता उद्धृत कर रहा हूँ।

ढाई सौ वर्षों के बाद,
हाथ पांव की कड़ियाँ तड़कीं
छाती से सब कीलें उखड़ीं
सूखा लहू नस-नस दौड़ा
हृदय जिया अब।

दूसरा पक्ष—

ढाई सौ वर्षों के बाद
किन्तु झोपड़ी वही खड़ी है
नई ईंट तक नहीं लगी है
बड़ी गरीबी भरी पड़ी है

आक्रोश —

आग लगे इस राम राज में,
ढोलक बढ़ती है अमीर की,
चमड़ी बजती है गरीब की,
खून बहा है रामराज में
आग लगे इस रामराज में,
पूँजी पति मिल का मालिक है,

केदारनाथ अग्रवाल को उस समय का जनतंत्र, अपेक्षित जनतंत्र नहीं लगा।

सुदामा पाण्डे 'धूमिल' ने तो इस प्रजातंत्र को एक दम खारिज कर दिया।

न कोई प्रजा है,
न कोई तंत्र है,
यह आदमी के खिलाफ
अदमी का खुला
षडयंत्र है।

मगर आज हम उसी प्रजातंत्र का महोत्सव मना रहे हैं, जिसमें केदार जी ने आग लगाई थी, या जिसे 'धूमिल' ने आदमी के खिलाफ आदमी का षडयंत्र कहा था। आज गरीबों को पक्के मकान, औरतों को गेस का चूल्हा, सस्ता गल्ला, ढेरों कर्ज सड़कों का जाल जैसी बहुतेरी सौगात मिल रही है। एक अच्छा दिन बहुत है। भगवान करे इस खेरात की अवधि लम्बी हो।

किन्तु दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र या जनतंत्र धन-तंत्र की ओर बढ़ता नजर आ रहा है। अब साधारण आदमी के लिये संसद, या विधान, सभाओं के कपाट बन्द हैं। क्योंकि वहाँ जाने के लिये धन-कुबेर होना होगा। जो लोग कभी सड़क पर थे, वे आज सांसद व विधायक हैं, और जो सांसद या विधायक हैं वे सड़क पर। हमारा जनतंत्र अभी राहेजन व राहेबर पहचान कर रहा है।

डॉ. रेवती रमण का समीक्षकीय विवेक

- रामनिहाल गुंजन

डॉ. रेवती रमण (1955-2021) यहाँ के समीक्षकों में एक प्रमुख नाम हैं जो अपनी समीक्षात्मक टिप्पणियों के जरिए हिन्दी पाठकों का स्थान अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। उन्होंने शुरू में कविताएँ भी लिखी थीं, जिसका एक संग्रह समय की रंगत शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। बाद में उन्होंने आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अलावा अन्य सात नए कवियों की कविताओं ('सप्त स्वर' नामक पुस्तक में संकलित) का संयोजन-संपादन भी किया था। बाद के दिनों में उनकी समय-समय पर लिखी समीक्षात्मक टिप्पणियों और आलोचनात्मक लेखों के संग्रह क्रमशः 'कविता और मानवीय संवेदना', 'समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'कविता में समकाल', 'काव्य-विमर्श: निराला' 'हिन्दी आलोचक : बीसवीं शताब्दी', 'जातीय मनोभूमि की तलाश' और 'सर्जक की अन्तर्दृष्टि' नाम से प्रकाशित हुए। इस पुस्तकों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि उनकी साहित्य-साधना 2021 के प्रारंभ तक लगातार जारी रही। 'सर्जक की अन्तर्दृष्टि' उनकी अंतिम प्रकाशित आलोचनात्मक कृति है। इस पुस्तक के प्रकाशन-काल यानी 2007 के बाद की लिखी समीक्षात्मक टिप्पणियाँ और लेख भी होंगे जो अभी तक असंकलित-अप्रकाशित होंगे। उनके प्रकाश के बाद ही उनके बारे में समग्र अवधारणा बनायी जा सकेगी तथा उनकी कृतियों का सम्यक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा सकेगा। तत्काल उनके कुछ लेखों और टिप्पणियों पर विचार करते हुए उनके रचनात्मक अवदान की चर्चा करना ही अभीष्ट है।

उल्लेखनीय है कि रेवती रमण अपने विचारों में बिल्कुल स्पष्ट होने के कारण अपने लेखों में जो कुछ कहना चाहते हैं, उसमें कहीं से कोई अमूर्तता दिखाई नहीं पड़ती। वैसे उन्होंने एक जगह लिखा है कि 'संगति मुझे कभी न मिली, जीवन में, न लेखन में।' फिर भी उनकी पुस्तकों तथा लेखों आदि को पढ़ते हुए जो धारणा निर्मित होती है, वह अच्छी ही कही जा सकती है। उन्होंने अपनी पुस्तक सर्जक की अन्तर्दृष्टि की भूमिका में एक जगह आलोचक की उपेक्षा नीति को प्रश्नांकित करते हुए लिखा है— "साहित्य के इतिहास में सर्जक की अन्तर्दृष्टि आलोचक को सब समय चूनीतीपूर्ण लगी है। कई बाद तो वह मूल मंतव्य से आँख हटा लेता है। अभिव्यक्ति परम अनिवार्य हो, आत्मसंभव हो, कहाँ से आती है एक सर्जक के भीतर यह आकांक्षा? हम आज जिन्हें आदर से याद करना चाहते हैं, उनके जीवित रहते उन्हें क्यों नहीं समझ पाते? क्या महत्ता और प्रसिद्धि भी प्रायोजित होती है? प्रायोजन किसका होता है? क्रूरता सब समय कटनीतिक होती है।" (सर्जक की अन्तर्दृष्टि - पृ. 5-6)। वैसे अन्यत्र वे लिखते हैं — "सृजन का गुणगान हो या निन्दा-आख्यान सर्जक की दुखती रग नहीं है। उसका एक स्वप्नलोक है, स्थायी अधिवास वहीं उसकी पारिवारिकता है, कठोर और रैदास का वेगमपुरा, हम जहाँ रहते हैं वहाँ से कितनी दूर है?" (उच पृ. 7)।

यों डॉ. रेवती रमण ने कई विषयों पर लेख लिखे हैं, 'जिनमें हिन्दी कविता', 'कविता में समाज', 'कविता का देशज ठाढ़', 'हिन्दी नवजागरण', 'परम्परा और शास्त्रीय साहित्य', 'आवाज में आन्दोलन', 'बिहार की समकालीन कविता-स्थित', 'संस्मरण का सम्मुख', आदि प्रमुख हैं। इन विषयों पर लिखते हुए रेवती रमण अपनी स्पष्ट दृष्टि की सूचना देते हैं ओह इस बात की ओर ध्यान दिलाना जरूरी समझाते हैं कि "जो समाज परिवर्तन में साहित्य की भूमिका चाहते हैं, वे सब किसी एक ही दल या मजहब के नहीं हैं। तब भी क्या यह

सच नहीं है कि रचना का संदर्भ उनके लिए जीवन मरण का प्रश्न नहीं है।” (उप. पृ०८)। उन्होंने हिन्दी कविता के कई पक्षों पर विचार किया है। उन्होंने वैसे तो कई कवियों पर लिखा है। और उन्हें प्रभावित करने वाले कवियों में जो प्रमुख कवि रहे हैं, उनमें माखनलाल चतुर्वेदी का विशेष स्थान रहा है। उनकी राष्ट्रीय चेतना वाली कविताएँ उन्हें ज्यादा पसंद हैं। उन्होंने इसका कारण बताते हुए एक जगह लिखा है — “माखनलाल चतुर्वेदी जी सोये हुए को जगाना चाहते हैं? ये आमतौर से कविता की राजनीति नहीं करते। और कई बार तो कविता में राजनीति से बचने की कोशिश करते हैं। उनकी कविताओं में मातृभूमि से लेकर एशिया महादेश तक की चिन्ता व्यक्त हुई है।” (उप. पृ. 11)। उसी प्रकार जहाँ उत्तर छायावाद और प्रगतिवाद के कवियों की वे चर्चा करते हैं, वे खासतौर पर ‘दिनकर’, ‘बच्चन’ ‘नेपाली’, ‘सुभद्रा कुमारी चौहान’, ‘भगवत चरण वर्मा’, रामेश्वर शुक्ल ‘अंचल’ तथा कलक्टर सिंह केसरी जैसे कवियों की कविताओं को सामने रखकर अपने — ‘कविता में समाज और सृष्टि का पर्यावरण’ शीर्षक लेख में लिखते हैं — “एक ही प्रकार में बहते हुए ये कवि अलग-अलग हो सकते हैं। एक साथ कई लहरें उठती हैं और गिरती हैं, पर एक साम्य सब में है। ये समय के हाथ की वंशी हैं। इनका निर्माण और विकास समय और परिस्थितियों ने ही किया है।” (उप. पृ. 57)

प्रो. डॉ. रेवती रमण; अलग-अलग निबंधों में जो विचार प्रस्तुत करते हैं उससे विषय स्पष्ट हो जाते हैं। ये उनके विचार-शिक्षा के रूप में इस प्रकार भी देखे जा सकते हैं—

1. कविता संबंध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ‘हृदय की मुक्तावस्था’ से माना था, आलोचना का संबंध उसी की तर्ज पर डॉ. नामवर सिंह ने ‘बुद्धि की मुक्तावस्था’ से जोड़ा था। अशोक बाजपेयी का ‘आलोचना-साहित्य बुद्धि की मुक्तावस्था की अद्भुत मिसाल है।’ (पृ. 77)

2. देवताने उन लोगों में हैं, जो मानते हैं कि ‘करिश्में दिखा सकती हैं अब भी किताबें।’ (पृ० 121)

3. ‘मंगलेश स्थांतः सुखाय नहीं लिखते, आन्दोलनात्मक आवेश में’ तो बिल्कुल नहीं, मार्क्सवादी हैं, सब जानते हैं, लेकिन सतह पर मार्क्सवादी नहीं भी दिखता है। उनकी संरचना लोक वेदना से नाभिनालबद्ध हो सकती है। लेकिन भाषा में उनके नागरिक संस्कार पूरी तरह प्रतिबिंबित होते हैं।’ (पृ. 123)।

4. आलोक धन्वा की पक्षधरता मुझे इसलिए भी विशिष्ट लगती है कि कोमल और मधुर के पद लालित्य के, श्रुतिमधुर कविता के संस्कार उनमें समृद्ध हैं। (पृ. 144)

5. ‘मंगलाई की पहचान बनाती है वे कविताएँ तो प्रकृति और पर्यावरण से सम्बद्ध है या फिर से जिनमें कवि स्वयं है, संबंधों के जीवंत सरोकारों के बीच।’ (पृ. 161)।

6. ‘अरुण कमल अपनी प्रतीतात्मक संवेदना में शुरू से ही अप्रतिम रहे, आत्मसजग शब्दशिल्पी की तरह।’ (पृ. 165)

7. ‘इस वक्त उत्तर आधुनिकता की जो आंधी चल रही है, मदन कश्यप अपनी पूरी शक्ति से उससे जूझ रहे हैं। अर्थात् मदन कश्यप को एक ढण्टा चाहिए बिना उसके उतनकी विता में प्रवाह नहीं आता। ‘कूपलेन में अंधेरा’ की संरचना पर ध्यान दें तो लगेगा एक और आलोक धन्वा हिन्दी में आ गया है।’ (पृ. 168)

8. ‘धैर्मत्तिक प्रतिभा और ईमानदारी को लेकर रामविलास शर्मा पर किसी ने संदेह नहीं किया। इसके साथ ही प्रगतिशील काव्यान्दोलन में उनकी क्रांतिकारी भूमिका को सभी स्वीकार करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में निराला के पक्ष में सक्रिय होने के साथ उन्होंने कविताएँ भी लिखीं, लेकिन आगे चलकर उन्हें हिन्दी आलोचना का प्रतीक पुरुष समझा गया तो इसकी वजह भी उनका श्रम और साधना है।’ (पृ. 190)

9. ‘हिन्दीतर भाषी प्रान्तों की तुलना में हिन्दी प्रान्तों की आवाज दबा दी जाती रही है। मुख्य वजह

है हिन्दी जनता की आत्महीनता, आत्मपरायापन। यह सबसे ज्यादा यहाँ के बौद्धिक-वर्ग में व्याप्त है। अपनी बौद्धिकता का सिक्का चलाने के अतिरिक्त उत्साह में उनका ध्यान हिन्दी समाज के अन्तर्विरोधों पर जिस तरह केन्द्रित हो पाता है, विशेषताओं पर नहीं। कहना न होगा कि वीर भारत तलवार ऐसे ही बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रामविलास जी का सारा परवर्ती लेखक हिन्दी जाति की आत्म समृद्धि को लक्ष्य करके हुआ था। उन्होंने थोड़े, से अंग्रेजीदां को जनता का पर्याय कभी नहीं माना। हिन्दी नवजागरण के सूत्रधारों पर कीचड़ उछालने से पहले हिन्दी जनता के स्वभाव और संस्कार को जानना जरूरी है।' (पृ. 214)।

10. 'भगवत रावत प्रगतिशील चेतना और काव्य-परंपरा से जुड़ते हैं, इसलिए विरासत की कुछ झलक उनके काव्य में भी मिल जाती है।' (पृ. 104)

11. 'छायावादियों में निराला प्रगतिशील साहित्य के विधिवत प्रारंभ होने से पहले ही यथार्थवादी कविताएं लिखने लगे थे।' (पृ. 56)

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि रेवती रमण लेखकों और कवियों पर अपनी दृष्टि के नियुक्त कर जो बातें लिखते और कहते थे, उसके पीछे इनका समीक्षीय विवेक भी काम करता था। वे एक तरफ तटस्थ रहकर व्यक्तियों लेखकों और विचारकों की चिन्तन-प्रतिनिधि का परीक्षण करते थे तो दूसरी ओर जन पक्षधर लेखकों के पक्ष में खड़े होकर उनका पक्ष-पोषण करते थे। इसके साथ ही वे अपने मित्र लेखकों और कवियों में यथावत दोष-दर्शन भी करते थे। उन्होंने एक जगह स्पष्ट लिखा है — "सिद्धांत रचना की स्वायत्ता का हो या रचना के राजनीतिक इस्तेमाल का, मुझे आकर्षक नहीं लगता है। कोई साहित्यानुरागी हो सकता है, कोई ऐक्टिविस्ट हो सकता है, कोई जीवनदायी हो सकता है। अपन को क्या? अपन की डफली है, अपना राग है। लूट का माल जतन से घर ले जाते रहजनों को देखता रहता हूँ, संपत्ति की तरह। ऊहापोह

में पड़ा ठगा अकेला।'" (पृ. 821)

अपनी पुस्तक 'सर्जक की अन्तर्दृष्टि' में रेवती रमण ने ज्यादातर पुस्तकों की लिखी समीक्षाएं संकलित की हैं, जिनसे पता सकता है कि वे समीक्षा-लेखन में ज्यादा रुचि लेते थे। इसे दृष्टि से देखा जाय तो जिन पुस्तकों की समीक्षाएं उन्होंने लिखी थीं, वे थीं अशोक वाजपेयी की पुस्तक 'कविता का गल्प', भगवत रावत की 'हमने इनके घर देखें', चन्द्रकांत देवताले की पुस्तकें— 'इतनी पत्थर रोशनी' और 'उजाड़ में संग्रहालय', मंगतेरा डबराल की 'लेखक की रोटी' और 'पहाड़ पर लालटेन', आलोक धन्वा की 'दुनिया रोज बनती है', लीलाधर मण्डलोई की 'घर घर घूमा', दुर्गा प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का गस', विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के संस्मरणों की दो पुस्तकें— 'आत्म की धरती' और 'एक नाम के यात्री', रामविलास शर्मा की 'परंपरा का मूल्यांकन', वीर भारत तलवार की रस्साकस्सी, और शंभुनाथ की पुस्तक 'दुस्समय में साहित्य', इन पुस्तक-समीक्षाओं से मिल जाती है कि इन पुस्तकों के लेखकों में ज्यादातर उनके प्रिय लेखक रहे हैं, जिनकी चर्चा के प्रायः कविता और गद्य पर लिखे अपने लेखों में भी करते रहे थे। एक और बात, जो विशेष रूप से लक्षित होती है वह यह कि रेवती रमण कथा-समीक्षक की भूमिका के बजाय कविता समीक्षक की भूमिका को ज्यादा पसंद करते थे।

इस प्रकार रेवती रमण के हिन्दी समीक्षक के क्षेत्र में किए गए कार्यों को देखते हुए कहा जा सकता है कि वे एक अच्छे और कुशल समीक्षक की भूमिका का निर्वहन कर रहे थे। उनके असामाजिक निधन से अपूरणीय क्षति महसूस होगी, इसमें सन्देह नहीं।

नया शीतल टोला,
आरा-802301 (बिहार)
मो. - 7250205038

सत्यवती मलिक की कहानियाँ : स्मृतियों के गहरे बुने तार

- अरविन्द कुमार

1906 में जन्मी सत्यवती मलिक का रचनाकाल मूलतः 1935 से 1951 के बीच का है। सत्यवती मलिक महादेवी वर्मा और सभद्राकुमारी चौहान की समकालीन थीं। इनकी छोटी बहन उर्मिला देवी ने सत्याग्रह-संग्राम में मेरठ से जेल-यात्रा की थी। 1911 में जन्मी इनकी एक और छोटी बहन पुरुषार्थवती देवी, जिनका विवाह चन्द्रगुप्त विद्यालंकार से हुआ था, ने उस दौर में सरस्वती, हंस, सुधा, विश्वमित्र एवं प्रताप के लिए लगातार कविताएँ लिखी थीं और एक काव्य-संकलन 'अन्तर्वेदना' के नाम से प्रकाशित भी हुआ था। इसका प्रकाशन विश्व-साहित्य ग्रंथमाला, मैक्लेगन रोड, लाहौर से हुआ था और इसे तब काफी सराहा गया था। मात्र बीस वर्ष की अवस्था में उनकी एक कविता 'बधिक के प्रति' काफी प्रशंसित हुई थी।

सत्यवती मलिक के समकालीनों में तब होमवती देवी तथा कमला चौधरी भी कहानियाँ लिख रही थीं। होमवती देवी का रचनाकाल 1939 से 1950 तक का माना जाता है जबकि कमला चौधरी का लेखन 1934 से 1957 के बीच का है। होमवती देवी का पहला कथा-संकलन 'निसर्ग' है जो 1939 में प्रकाशित हुआ था जबकि कमला चौधरी का प्रथम कथा-संग्रह 'उन्माद' है जो 1934 में आया था। सोमवती देवी तथा कमला चौधरी की कहानियों में मुख्य रूप से स्त्री है, खासकर विधवाओं की समाजिक स्थिति एवं लैंगिक भेदभाव तथा स्त्री-उत्तराधिकार इनके विषय हैं। ...होमवती देवी की कहानी 'गोरे की टोपी' तो पूरी तरह रुढ़ियों के विरुद्ध खड़ी हो जाती है जहाँ नवल विधवा मंजरी को सहर्ष अपनी वाग्दत्ता बनाने का फैसला करता है तथा मंजरी के पुत्र प्रवाल को वह अपना पुत्र मानने लगता है। उसे जमाने की कोई परवाह नहीं। वह मानता है कि विवाह के फैसले पर तो पूरी तरह स्त्री का अधिकार होना चाहिए। वह जानता है कि एक स्त्री के लिए वैधव्य कितना बड़ा दुख है जहाँ उसे दूसरों की कृपा पर जिन्दगी काटनी होती है। स्त्री के विधवा हो जाने में उसका कोई कसूर तो है नहीं। इसी तरह 'उत्तराधिकारी' कहानी में स्त्री को वंशवाद से बाहर किए जाने का विरोध किया गया है। आखिर एक स्त्री वंश क्यों नहीं चला सकती? संतान तो वह भी है। लड़की को संपत्ति का उत्तराधिकारी क्यों नहीं बनाया जा सकता। कहानी का पिता यह कहता है कि 'लड़कियों से कब किसी का वंश चला है। लड़की पिता का वंश नहीं चला सकती। फिर उसे धन-सम्पत्ति का हकदार बनाकर क्या मिलेगा।' ...जबकि कमला चौधरी की कहानियों में लैंगिक भेदभाव का जिक्र तो है, पर होमवती देवी की तरह विद्रोही स्वर नहीं है। चाहे वह उनकी कहानी 'अजाब' हो या 'दृष्टि का मूल्य' दोनों में स्त्री अपनी इच्छाओं की बलि देती है और कोई पुरुष उसे जीवन के उस अंधकार से मुक्त नहीं करा पाता। यहाँ तक कि 'प्रसादी कमण्डल' की विधवा बुआ भी अपना वैधव्य दूसरों की सेवा करते हुए काट लेती हैं। ...हालाँकि स्त्री के प्रति सोच की यह आहट उषादेवी मित्रा की कहानियों में विद्यमान है।

सत्यवती मलिक की कहानियाँ मूलतः पारिवारिक कहानियाँ हैं। सत्यवती मलिक की प्रारंभिक शिक्षा कश्मीर में हुई थी, बाद में कुछ समय वे शांति निकेतन में रहीं और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सान्निध्य पाया। वे कलकत्ता, लाहौर, दिल्ली में भी रहीं और इस अलग-अलग प्रवास के अनुभवों को अपनी कहानियों में उतारा। उनकी पहली कहानी 'क्या यह सब स्वप्न था?' श्रीनगर में रहते हुए लिखी गयी थी जो गांधी जी

के अछूत आन्दोलन पर आधारित थी और जो गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार की पत्रिका ज्योति में सम्भवतः 1935 में प्रकाशित हुई। फिर उसी वर्ष उनकी दो और चर्चित कहानियाँ आई, वे थीं- 'नारी हृदय की साध' एवं 'दो फूल'। 'नारी हृदय की साध' कलकत्ता प्रवास में लिखी गयी जबकि 'दो फूल' लाहौर प्रवास में। 'दो फूल' तबके 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई जबकि कई अन्य कहानियाँ 'विशाल भारत' के साथ-साथ 'विश्वभारती', 'नया समाज' एवं लाहौर से निकलने वाले पत्र 'आर्य' में भी छपीं। सत्यवती मलिक की कुल कहानियाँ जिनकी संख्या तीन दर्जन के करीब हो सकती है उनके चार संकलनों- 'दो फूल', 'वैषाख की रात', 'नारी हृदय की साध' और 'दिन-रात' में संकलित हैं।

'नारी-हृदय की साध' और 'दो फूल' उनके कथा-लेखक के प्रारंभिक दौर की कहानियाँ हैं जिनमें खिलखिलाती अठखेलियाँ करती प्रकृति सामने आती है। सत्यवती जी काफी भ्रमणशील थीं और प्रकृति के विभिन्न अवयवों से जुड़ी रहती थीं, इस नाते इन कहानियों से प्रकृति के सौन्दर्य को आप बखूबी समझ सकते हैं, उसका आनन्द ले सकते हैं। 'नारी हृदय की साध' में वे प्रकृति को उपालम्भ मानकर उस असीम सत्ता से मिलना चाहती है जिससे मिलने की चाह हर प्रेमी हृदय में मौजूद होती है। इस कहानी को दो हिमानी नदियों को रूपक बनाकर खड़ा किया गया है। ...वे कहती हैं - 'नारी हृदय की साध', 'भाई-बहन' एवं 'कैदी' को रचकर सर्वाधिक सृजन-सुख प्राप्त हुआ क्योंकि इन्हें दुहराते समय अब भी वे पुराने पहाड़ी रास्ते, सघनवन, शेषनाग, लम्बोदरा, चन्दभागा, विस्तार के तीर, कैदी की विवशता और भाई-बहन का असीम स्नेह याद आता है।' ...जाहिर है, कश्मीर उन्हें बेहद प्रिय है, इसलिए वहाँ की अठखेलियाँ करती नदियाँ उन्हें आकर्षित करती रही हैं। इसी आकर्षण से प्रेरित होकर उन्होंने 'नारी हृदय की साध' जैसी कहानी लिखी। यह

प्रकृति का नियम है कि छोटी नदियाँ बड़ी नदियों में समाहित हो जाती हैं। इसी तरह जीवन भी किसी बड़ी शक्ति में समाहित हो जाता है, खासकर नारी जीवन अपनी सार्थकता तभी पाता है जब वह जीवन के उस विराट रूप में घुल जाए यानी अपना होम कर दे, अपने को तिरोहित कर ले। इसे उन्होंने लम्बोदरा नामक हिमानी नदी के माध्यम से व्यक्त किया है जो अपने प्रियतम से मिलने को व्याकुल है। लम्बोदरा का नारी हृदय प्रेम की जिस चरम सीमा तक पहुँच पाया है, उसकी कल्पना भी उसका भाई शेषनाग नहीं कर सकता। उसने तो एक ही धुन में अपनी रहस्यमयी साध को पूरा करने की आशा में न जाने कितने दिन, कितने महीने और कितने वर्ष बिता दिए हैं! न जाने कितनी अंधेरी और कितनी चाँदनी रातें उसने सिसक-सिसककर काटी हैं! ...शेषनाग कहता है - 'बहन, ऐसा उन्माद किस काम का?' तो लंबोदरा तपस्वनी की भाँति कह उठती है- 'भाई, इस तरह चुपचाप अपना अस्तित्व मिटा देने की चाह ही तो नारी-हृदय की सबसे बड़ी साध है।' ...नारी का यह समर्पण सत्यवती जी की अन्य कहानियों में भी है। वे कहती हैं- 'नारी हृदय की साध निर्मल मन पर अंकित एक ऐसा अमर सूक्ष्म भाव है जो उन दो छलछलाती हिमानी नदियों के समान युग-युगांतर से प्रवाहित होता आ रहा है और जबतक सृष्टि की यह रचना है, मानव मन में तरंगित होता रहेगा। बिना स्नेह-बंधन के जीवन सूना है। भाई-बहन, सखा-सखी, पति-पत्नी, पिता-पुत्री किसी भी पवित्र प्रेम में जीवन की सार्थकता है।'।

सत्यवती जी की अधिकांश कहानियाँ मानवीय संस्पर्श की कहानियाँ हैं। एक ऐसी ही कहानी है - भाई-बहन, जिसमें मुहर्रम में ताजिए के जुलूस को देखते-देखते एक भाई के कुछ देर के लिए आँखों से ओझल हो जाने पर बहन बेचैन होकर रोने लगती है और उसके मिलते ही उससे लिपटते हुए कहती है - 'पगले! तू कहाँ चला गया था?' कमल कहता है

- 'मुझे गुब्बारा लेना था पर पैसे नहीं थे।'...तो निर्मला उसे अपने पैसों से दो गुब्बारे लाकर देती है और उसे भुजाओं में जकड़कर कहती है - 'गधे! तू चला क्यों गया था?' ...ऐसा सरल और निष्कपट प्रेम शायद उस पहाड़ी धरती की देन था जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों की साझी संस्कृति बिना किसी अवरोध के फलती-फूलती आई थी। इसी तरह 'माली की लड़की' में विजय के मन में मुक्ता के लिए जो अनुराग पैदा होता है, वह प्रकृतिगत भाव की ही देन है जहाँ फूलों और वृक्षों का संसार उन्हें एक-दूसरे के निकट लाता है। हालाँकि उनका यह बाल-प्रेम इससे आगे बढ़े इससे पहले ही परिस्थितियाँ उन्हें अलग कर देती हैं। विजय शहर लौट जाता है और मुक्ता उस पहाड़ी बंगला की रखवाली करने अपने माली पिता के पास खड़ी आँसुओं में डूब जाती है। कथाकार लिखती हैं - 'माली की लड़की मुक्ता, जो सबरे से ही जंगले पर मुँह लटकाए खड़ी थी, उस मेघाच्छन्न आकाश और उस सुनसान घेरे को एक बार चारों ओर से देखकर सिसक पड़ी। बेचारा माली यह भी न जान सका कि उसकी प्यारी बच्ची के किस कोमल स्थान पर कौन-सी गहरी चोट पहुँची है।' ...वे पुनः कहती हैं - 'मुक्ता कितने ही दिनों तक उस पथरीले झरने की झरझर में, उस सुरभित पवन की सरसराहट में और उन ऊँची शाखाओं पर झूम-झूमकर गाते हुए पक्षियों के कलरव में एक गहरे विषाद और घनी उदासी की छाया अनुभव करती रही।' अभी कुछ ही दिन पहले तक वह अपने व्यक्तित्व को दूसरे पहाड़ी बालकों से श्रेष्ठ समझ रही थी और उनके 'हयः मुक्ता!' पुकारने का जवाब उदंडतापूर्वक दे रही थी। विजय के साथ ने उसके भीतर एक अतिरिक्त आत्मविश्वास पैदा कर दिया था। ...इसी तरह 'दो फूल' कहानी में जीवन के दो कालखण्ड प्रकट होते हैं - एक जवानी और दूसरा बुढ़ापा। अपनी जवानी में जो फूल खिलकर प्रकृति को सुरभित कर रहे थे, बुढ़ापा आते ही उनकी सारी

पंखुड़ियाँ झड़ गयी थीं। कथाकार लिखती हैं- 'उस गमले की ओर देखा तो हृदय नाच उठा। दोनों फूल पूरी गुलाबी रंगत लिए भीनी-भीनी महक के साथ यौवन के उन्माद में हिलोरें ले रहे थे। उन दोनों में अजीब मोहिनी मस्ती थी लेकिन वे फिर लिखती हैं - 'उफ, उसका सारा जीवन ही चार दिनों का था। इन्हीं चार दिनों में वह नव विकसित कलिका बनी, इन्हीं चार दिनों में उसने यौवन-मद की हिलोरें खाई और अब इन्हीं चार दिनों में वह इतिहास की चीज बन गया-सा दिखाई देता है।' ...वे कहती हैं - 'एक क्षण तक बड़े गम्भीर भाव से मैंने उस मुरझाए गुलाब के फूल की ओर देखा। उसके बाद मेरे शरीर में कंपकंपी-सी दौड़ गई। मानो वह मुझसे कह रहा था - 'क्या तुम्हारे मानव-जीवन का इतिहास भी मेरे समान नहीं है?' ...सत्यवती जी की यह छोटी-सी कहानी जीवन को लेकर बहुत कुछ कह देती है। कितने खुश थे उनके बच्चे कपिला, केशी और भाषी, कितनी सरलता थी उनके शब्दों में'अन्ना जी, जरा बाहर चलकर देखो तो, सारा फूल खिल गया है। कैसा सुन्दर है।'

पर क्या जीवन की यह मस्ती और खुशी स्थायी थी? नहीं, क्योंकि जीवन में यदि वसंत है तो पतझड़ भी है। 1936 की एक कहानी 'वसन्त है या पतझड़?' में वे ऋतुओं के परिवर्तन को जीवन से जोड़ती हुई लिखती हैं - 'मैं भयभीत हो उठी। मुझे अपनी अवस्था सामने फलों की सुन्दर तश्तरी में रखे गए उस काश्मीरी सेब के समान जान पड़ी जो वहाँ करीब दो सप्ताह से पड़ा रह गया था और जिसकी गुलाबी रंगत क्रमशः सिकुड़न में विलीन होती जा रही थी। ओह! आज वसन्त है या पतझड़? अब मुझे साफ दिखाई दे रहा था कि निष्ठुर काल अपनी तीव्र और अदृश्य गति के अमिट चिह्नों की छाप मेरे इस लाड़-प्यार से पाले गए शरीर पर लगाता चला जा रहा है। इन गड्ढों, खाइयों, उभरी हुई हड्डियों और नीली रेखाओं को एक साथ देख मैं अधीर हो

उठी।'...शरीर की स्मृतियों के साथ कई दूसरी स्मृतियाँ भी हैं जिसमें हसन, सुभाना, प्रेमा, नूरी और बुत जैसी छायाएँ हैं जो बार-बार सामने आकर मन को कचोटती हैं। 'हसन' में वे लिखती हैं - 'यह संसार दूर से इतना सुहावना, इतना कोमल और इतना सरस क्यों जान पड़ता है? जो नहीं है, उसे ही पाने की आकांक्षा मनुष्य को हर घड़ी घेरे रहती है? मानव की यह मृगतृष्णा क्या दयनीय नहीं है?' ... हसन कभी यह नहीं जान सका कि उसे अब भी निकम्मा-निठल्ला नामों से क्यों पुकारा जाता है और घर में घुसते ही उसकी माँ रोहनी का उस पर रोषपूर्ण व्यवहार क्यों है? जबकि वह पिछले पाँच वर्षों से 'लाहौर मेटल मार्ट' का कर्मचारी है। तो क्या माँ अब उसका घर लौटना पसन्द नहीं करती? सुभाना भी तो ऐसे ही अकेला हो गया है। सफेद लड्डे के वस्त्रों में पूरी शान के साथ घंटी बजा-बजाकर श्रीनगर के तंग गली-मुहल्लों-बाजारों में तांगा चलाने की नौकरी कुछ कम नहीं होती। कथाकार लिखती हैं - 'आज सुभाना की अवस्था एवं चाल-ढाल का ऐसा दयनीय परिवर्तन देखकर भीतर ही भीतर मुझे क्लेश और आश्चर्य हुआ। मैली-सी सलवार, गर्म पट्टी का फटा कोट, गिरती हुई पगड़ी, झुर्रीदार सूखा-सा चेहरा।'...सुभाना ने इन बीच के वर्षों में अपनी घोड़ी जो उसकी शान और जीविका का प्रतीक थी, को खो दिया था। फिर अपनी घरवाली और तीन बड़ी-बड़ी बच्चियों को। ...समय का घूमता पहिया सत्यवती जी की कथा में नये-नये रूपों में प्रकट होता है। सुभाना कहता है - 'बीबी जी, कुछ अच्छा नहीं लगता।' उसकी आँखें छलछला जाती हैं। - 'सुख नहीं-सुख नहीं।' ...यह सुख तो नूरी से भी छिन गया है क्योंकि उसके भी माँ-बाप नहीं हैं और इस बालपन में ही वह अकेली हो गई है। लेखिका के पूछने पर वह कहती है - 'बाब खुस न, मौज खुस न। सखुस बेचारा कबरसमंज।' यानी बाप नहीं, माँ नहीं, वे बेचारे तो कब्र में पड़े हैं। और

कुछ ऐसा ही दुख प्रेमा का भी है। प्रेमा जिस समाज से आती है, वहाँ बच्चियों की शादी वयस्क होने से पहले ही कर दी जाती है। उन्हें तो विवाह का सही अर्थ भी पता नहीं होता। प्रेमा मात्र बारह वर्ष की है जो विवाह के बाद विधवा हो चुकी है। हालाँकि उसे इस शब्द का कोई विशेष अर्थ पता नहीं। जब लेखिका उससे पूछती है - 'तेरे कड़े, हंसली, चूड़ी सब क्या हुए?' तो उसकी बड़ी बहन कहती है- 'अजी! यह तो विधवा भी हो गई।' और फिर एक नासमझ खिलखिलाहट। किन्तु प्रेमा का चेहरा रक्तहीन सफेद-सा हो गया। सत्यवती जी लिखती हैं - 'उस बाल नारी-मूर्ति के अन्तर की घर-घर, साँझ के हल्के उजाले के साथ मेरे सारे कमरे में असीम व्यथा-सी फैलाने लगी।' मैंने पूछा - 'तो इसकी दुबारा भी तो शादी हो सकती है?' तो बड़ी बहन ने कहा - 'जी हाँ, लेकिन हममें दुबारा कोई शादी नहीं होती, बैठाये देते हैं...मेरे ही एक देवर हैं।'...'अजी अबके वैशाख में तो सबसे छोटी की भी शादी हो जाएगी। माँ कहती है गौना पीछे हो लेगा। एक ठिकाने तो हो जाए, क्वारी लड़की जाने कहाँ-कहाँ डोलत गिरे।' कुछ ऐसी ही स्थितियाँ 'बुत' में भी हैं। यहाँ भी एक विवाहिता स्त्री होने के पूर्व ही अपना सौभाग्य खो बैठी थी। दुबारा उसका विवाह देवर के साथ रचाया गया पर छह मास बाद ही उसने भी बड़े भाई का अनुगमन किया, अब सबसे छोटा कुल नौ साल का था जिससे कानून विवाह न हो सकता था। तब कुल एवं जायदाद के प्रश्न के कारण तीसरी बार चचेरे भाई को ले सुहागन हुई पर वहाँ भी किसी कारण से सन्देह होने पर निकाल दी गई। अब इस घर में विधुर के साथ बैठ गई। ...बस एक दुलकता मिट्टी का ढेला, हाड़-माँस, सोने-चाँदी और लाल छपी ओढ़नी से ढका बुत, जो कहीं भी समाई नहीं।

सत्यवती मलिक के पास स्मृतियों की एक लम्बी शृंखला थी। कश्मीर की पूरी प्रकृति और वहाँ रहने वाले लोगों के आन्तरिक जीवन से उनका बेहद

लगाव था। साथ ही उनके अपने परिवार की भी ढेरों स्मृतियाँ थीं जिनमें स्त्रियों का संघर्ष प्रमुख था। अपनी माँ से वे बेहद प्यार करती थीं और उन्हें वे अपना आदर्श मानती थीं। उन्होंने लिखा है कि माताजी की धारणा थी कि बच्चे जैसे ही बोलना-समझना प्रारंभ करें, अक्षर-ज्ञान से पूर्व ही उन्हें वेद-मंत्र, दोहे, गीत, कहानियाँ कंठस्थ करा देना चाहिए। उनका हृदय राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत था। विदेशी वस्त्र शायद ही कभी आए हों। लोकमान्य तिलक की वे अनन्य भक्त थीं। 'केसरी' पत्रिका की वे नियमित ग्राहिका थीं। एक वाक्य उनका कहा हुआ याद आता है - 'जिब्हा शीरीं, मुलक जगीरी' अर्थात् यदि तुम्हारी वाणी में मिठास है तो सारा संसार तुम्हारा अपना है। ...सत्यवती जी की कहानियों में माँ की इस सीख की स्पष्ट छाप है। उनकी एक कहानी है - 'स्मृति' जो 1938 में लिखी गई है। पुरातत्व-विभाग के अफसर राय बहादुर जीवन लाल सेठी एक निस्तब्ध रात में गाना गाते हुए चक्की पीसती एक स्त्री को देखकर इतने विचलित हो जाते हैं कि उन्हें अपनी माँ याद आ जाती है जो उनके बचपन के दिनों में रात के बारह बजे तक चर्खा काटती और पुनः सबेरे चार बजे उठकर चक्की पीसने लगती। माँ की छवि उन दिनों ठीक ऐसी ही लगती थी जैसी रात के सन्नाटे में चक्की पीसती इस औरत की लग रही है। ...चाँदी की बालियाँ, मैले दुपट्टे से ढंका गोल-सा श्वेत मुख, कितनी ही वेदनाओं के भार से झुकी हुई आँखें। ऐसे ही कभी बगल में, कभी सिर पर कलसे रखे वह सुबह-शाम शाहों के घर पानी पहुँचाने जाती और नाज की टोकरियाँ और रुई के ढेर रात के काम के लिए ले आती।...उसी मुहल्ले के एक कोने में थी उनकी लम्बी-सी कच्ची कोठरी जिसकी एक ओर चौकी पर पीतल-लोहे के दो-चार बर्तन तबा-चूल्हा आदि थे, छत में टंगे हुए फालतू कपड़े और मिट्टी की गिरती दीवारों से सटी हुई मूँज की दो खाटें। कोठरी में

रात-भर चूहे और नेवले दौड़ा करते। ...और माँ और बुआ के पास एक ही ओढ़नी थी, जिसे वे बारी-बारी से पहन लेतीं। राय बहादुर के सामने चाँदी की बालियाँ पहरे स्वर्गीया जननी की प्रतिच्छाया-सा उसी पहाड़ी स्त्री का स्वरूप खड़ा हो आया। ...वैसा ही सूखा चेहरा, वैसी ही भरी हुई आँखें। कितना भयंकर रुदन था उन आँखों में!

कुछ ऐसी ही स्मृतियाँ 'आँसू' में भी हैं। दमयन्ती और शोभा बहनें हैं। दमयन्ती का विवाह हो चुका है और शोभा अविवाहित है। शोभा पढ़ी-लिखी है और खुले विचारों की है। उसे अपने अनुकूल एक पुरुष मिलता तो है पर विदेश जाने के बाद उसका मन भी परिवर्तित हो जाता है। ...दमयन्ती सोचती है - ऐसे आकर्षक, मोहक पाश फैलाने और क्षण-भर में समेट लेने की क्रूर व्यंग्य-भरी भावना प्रकृति में क्यों निहित है? उसके आगे अशोक द्वारा भेजे गए अनेक पत्र चलचित्र की भाँति घूम गए, जिनमें बार-बार शोभा के प्रति असीम अनुराग का वर्णन और उसके अलौकिक रूप गुणों का आख्यान होता, वे रंगीन संध्याएं जब घंटों ही वैज्ञानिक एवं चिकित्सा सम्बन्धी प्रयोगों की प्रतिमा शोभा को चकाचौंध से भर देती। जब वह आधुनिक शिक्षा-प्राप्त लड़कियों का स्वच्छन्द भाव से घूमना और अधिक आयु तक कुंवारा रहना भी पसन्द नहीं करती। किन्तु आज उसे विरहिणी होना पड़ गया था। सचमुच विरह और विच्छेद में कितना मृत्यु का-सा महान अन्तर है। दमयन्ती नहीं जानती थी कि शोभा को लेकर अशोक के विचार इतनी जल्दी बदल जाएंगे। शोभा के हाथों में पड़े हुए अशोक के पत्र की ये पंक्तियाँ तीक्ष्ण अन्त की भाँति उन दोनों के हृदय को बेध रही थीं। अशोक ने लिखा था - 'आज की दुनिया में भावुकता को स्थान देना निरी मूर्खता है। माना कि हम दोनों का परस्पर यह निजी चुनाव था, किन्तु वास्तव में वह अपने को धोखा था, प्रेम करने की चेष्टा-मात्र थी। नये सिरे से जीवन बनाने और

मिटाने की स्वतंत्रता इस युग के प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए। फिर तुम जैसी नव शिक्षा में पली स्वच्छन्द प्रकृति की नारियों के लिए यह तनिक भी कठिन नहीं।' पर दमयन्ती के बहाने लेखिका का यह मानना है कि 'इस अगाध सागर में न जाने कितने व्यक्तियों से नित्य नए सम्बन्ध बनते और टूटते हैं, पढ़-लिखकर भी स्नेह के क्षीण तन्तु से चिपटे रहना नारी की दुर्बलता एवं मूर्खता नहीं तो क्या? अतीत के इस छली आवरण को एक झटके में तोड़कर नव-निर्माण करो मेरी बच्ची।' एकान्त में विरह-मंदिर की पुजारिन बनकर करुण गीत गाने का कोई फायदा नहीं।जीवन का नव-निर्माण होना ही चाहिए।

सत्यवती मलिक की मात्र दो पृष्ठों की एक कहानी है - 'बेकारी में' जो मेहतर जाति को सामने रखकर लिखी गयी है। कहानी का वाचक खुद बेरोजगार हो गया है और एक वर्ष से इस जुगाड़ में है कि कोई नौकरी मिले। सिर पर पाँच-पाँच बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और रोटी-पानी का जिम्मा है। उसे पिछले एक वर्ष से कोई तनखाह नहीं मिल रही है पर उसके घर मैला साफ करनेवाली मेहतारानी को तनखाह मिल रही है। उसे यह कुछ अजीब लगता है तो वह पूछ बैठता है - 'जल्लो, तनखाह मिल गयी?' जल्लो खुश थी, उसके हाथ में चमकता हुआ एक रुपया था, वह उसे आशीश देते हुए कहती है - 'जीते रहो बाबूजी, बच्चे बने रहें बाबूजी?' ...वह अपने को कुंठित महसूस करता है और पूछता है - 'कितने रुपए हो जाते होंगे?' वह ऐसा पूछकर अपने मन को समझा रहा है। '... छह-सात रुपए बन ही जाते हैं बाबूजी और कुछ कपड़े-लत्ते ...माँ जी बहुत परवरिश करती हैं। अब यह बात है बाबूजी, गरीब मानस कभी रांधे, कभी न रांधे।' ...नायक कहता है - 'मैंने एक बार पुनः सिर से पैर तक उस मलिनता की पुतली को देखा। अत्यन्त मैली ओढ़नी से ढंका जिस्म और जगह-जगह

से फटी सलवार को पतली रस्सी से कसकर बंधी टाँगें! ...मेरे शोकाकुल नेत्रों में उसकी जीवन-गाथा समा गयी और आँसुओं का बाँध फिर एकबारगी टूट पड़ा। भगवान! सहिष्णुता और सन्न का यह बंधन तुमने दरिद्रता के साथ ही जोड़ रखा है क्या?' ..यह प्रेमचन्द युग में सत्यवती मलिक द्वारा लिखी गयी एक महत्वपूर्ण कहानी है जो चुपके से दलित संवेदना का विस्तार कर जाती है। एक दलित स्त्री की मूक पीड़ा का इतना सरल बयान सत्यवती जी ने कथा-लेखन की विशेषता है। पूरी कहानी एक भावनात्मक संस्पर्श से लबरेज है जहाँ बगैर किसी पृष्ठभूमि के एक हाशिए का समाज दिखता है। और दिखती है एक स्त्री जो उस हाशिए में ही संतुष्ट है।

स्मृतियों की यह शृंखला आगे भी चलती है। 1951 की कहानी 'पर जो चला जाता' में एक पात्र हबीबा के बहाने एक खास पंक्ति पर जोर दिया गया है कि जो चला जाता है, वह मिलता नहीं। यानी जो बीत गया, वह दुबारा लौटने वाला नहीं है। समय अपनी अबाध गति से सबकुछ पीछे छोड़कर आगे निकल जाता है, बचती हैं तो सिर्फ स्मृतियाँ जो जीवन के एकान्त में सहचर का काम करती हैं। कहानी की नायिका सावित्री को आज भी हबीबा याद है, ठीक वैसे ही जैसे सुभाना कहानी लेखिका को याद है। सावित्री अमरनाथ की यात्रा पर है जहाँ पहाड़ियाँ उसे बेहद आकर्षित करती हैं पर ऊपर जाने के लिए जो लड़का अपने घोड़े पर उसे ले जाता है, उसका नाम हबीबा है। पहाड़ हमें भले ही आकर्षित करते हों पर पहाड़ का जीवन काफी कठिन होता है। इस कठिनता को सिर्फ वहाँ के मूल निवासी ही समझ पाते हैं कि वहाँ पानी की बहुत किल्लत होती है, कि वहाँ अस्पतालों में कमरों का अभाव हमेशा बना रहता है, कि वहाँ सामान्य जरूरतों के लिए भी पहाड़ों से नीचे आना पड़ता है, कि पहाड़ के लोग बाहर की दुनिया से बिल्कुल कटे होते हैं।....पहाड़ पर रहनेवाले हबीबा ने समतल की

दुनिया तो नहीं देखी पर वहाँ की बुराइयों से वह परिचित है और यह कहता है कि पहाड़ों में भी अब चोरियाँ होने लगी हैं कि यहाँ भी लालच की दुनिया बढ़ती जा रही है। वह सावित्री से कहता है - 'हम दो भाई थे। साहब के पास बारी-बारी से घोड़ा ले जाते। दूसरा घोड़ा काला था। हमारा छोटा भाई भी ऐसा ही था एकदम जवान। परसाल ही तो भाई चला गया...ओह! उसे कितना दर्द उठता था डाक्टर तो अब सब ...तीन साल से कोई नहीं आया। ताबीज लाया, पीर के पास भी गया पर कुछ नहीं हुआ। और घोड़ा भी रात में कोई खोलकर ले गया। ...इधर चूर (चोर) भी अब आता है। किसको बोलेगा? हुजूर को तो सब मालूम है।' हबीबा बड़ी सरलता से अपना दुख उड़ेलता है। वह नहीं जानता कि सैलानी सवार उस दुनिया से आ रहा है, जहाँ मरना-जीना, चोरी-डकैती, धोखा आदि तनिक भी अनोखी बातें नहीं। जीवन के मूल्य जहाँ प्रतिक्षण बदल रहे हैं। ...सावित्री घोड़े से उतर पड़ी। पैसे चुका दिए और सामने के घने अन्धकार की ओर बढ़ चली जिसमें सुख-दुख, प्रेम-विछोह और जीवन की समस्त अनसुलझी उलझनों को ठाँप लेने की क्षमता है। हालाँकि इसके ठीक पहले उसने हबीबा से कहा था - 'हबीबा, हम सब भाई-भाई हैं। एक ही जमीन और एक ही आसमान के पुत्र-पुत्रियाँ हैं, एक ही जान हवा और पानी की तरह सबमें समायी है। तो फिर यह लड़ाई-झगड़ा क्यों होता है? इन्सान को इतना लालच क्यों है?'

अतः सत्यवती मलिक का नाम उन आरंभिक कथा-लेखिकाओं के साथ लिया जा सकता है जिन्होंने हिन्दी कथा-लेखन को अनेक दृष्टियों से समृद्ध किया। वैसे भी तीस का दशक हिन्दी कहानी का समृद्ध दशक माना जा सकता है। और उसे राजेन्द्र बाला घोष, उषा देवी मित्रा की परम्परा से जोड़कर देखा जा सकता है। राजेन्द्र बाला घोष ने बीसवीं सदी के पहले दशक में समय से आगे जाकर

कहानियाँ लिखी थीं, जिसमें 1907 में लिखी गई 'दुलाईवाली' को आज भी याद किया जाता है। उन्हें हिन्दी नवजागरण की पहली लेखिका माना जाता है। बंगला में वे प्रवासिनी के नाम से लिखती थीं और हिन्दी में बंगमहिला के नाम से। स्त्री शिक्षा तथा स्त्री स्वातंत्र्य की वे प्रबल समर्थक थीं तथा उन्होंने पुरुष सत्तात्मक समाज को चुनौती दी थी। वे स्वदेशी की समर्थक भी थीं जिसका उल्लेख 'दुलाईवाली' के एक प्रसंग में साफ-साफ दिखाई देता है। उन्होंने इस कहानी में एक जगह लिखा है - 'नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न! वे बंगालियों से भी बढ़ गए हैं। और बात भी ठीक है। नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रुपए की बरबादी की जाए। देशी लेने से दाम लगेगा सही, पर रहेगा तो देश ही में।' ...जबकि उषा देवी मित्रा ने स्त्री-अस्मिता के साथ-साथ स्त्री समानता की भी बात की है। उनकी 'भूल' कहानी में सुप्रभा अपने वैधव्य में एकादशी का व्रत करते हुए ज्वर से पीड़ित होने पर महरी के हाथ का पानी पीकर कहने को अपना धर्म बिगाड़ लेती है। हालाँकि महरी से यह कहने पर कि 'तूने जान-बूझकर क्यों बहू का धर्म बिगाड़ा?'...महरी कहती है - 'वह मर जो रही थी। तुम्हारे धर्म से मेरा धर्म लाख गुना अच्छा।' यानी जीवन बचाने के लिए कुछ भी किया जाना नैतिक है और जीवन से बड़ा धर्म हो ही नहीं सकता। स्त्री के प्रति सोच की यही आहट होमवती देवी में भी है और कमला चौधरी में भी।

सत्यवती मलिक ने अलग-अलग मिजाज की कहानियाँ लिखीं। इन्हीं में से एक कहानी है 'कैदी' जो कैदी जीवन की विडम्बनाओं पर आधारित है। सत्यवती मलिक के लेखन में भाषा का जो ठाठ है, वह अद्भुत है। उनकी अधिकांश कहानियों में काश्मीर और उसके निकटवर्ती इलाके हैं, उनकी खूबसूरती के किस्से हैं, उनकी लुभावनी तस्वीरें हैं और उसी के बीच जीवन की अद्भुत सच्चाइयाँ भी हैं। दोनों ओर

महान पर्वतों के बीचों बीच अकेला एक छोटा-सा पर्वत खण्ड- कुछ भग्नावशेष। यही किला है काश्मीर का कालापानी। पहले महाराज के समय में जिसे आजन्म कारावास होता था, उसे यहीं छोड़ देते थे। ...कैदी गा रहा है- 'ओ मेरे छलछलाते देश, बर्फ पिछल गई है, नवीन कोंपलें फूट निकली हैं।' ...वह एक जीवित मांस की लोथ-सा दिखाई देता था। सफेद रक्तहीन चेहरे पर कीच-युक्त अधखुली आँखें, मुँह से बहती हुई लार जो उसकी बड़ी हुई दाढ़ी पर से एक डोरे की तरह टपक रही थी और जिस पर मक्खियों ने अपना डेरा जमा लिया था।चीड़ वृक्षों में से सरसराती हवा, सन्ध्याकालीन नीले आकाश में जहाँ-तहाँ छितराए बादल, एक-एक मोड़ के बाद ऊँचाई। ...कैदी पानी माँग रहा है - 'पोम. ..पोम, त्रेष....त्रेष।' ...कोई कह रहा है - 'अजी यह तो जेल में झुलस गया है।'कैदी चाय माँग रहा है - 'भाई जी, आज चाय पिलायँगा। जे आज चाय नहीं पियँगा, ते फेर कद पियँगा? जिन्दगानी, परवरदिगार तैनुँ...' ...कोई फिर कह रहा है - 'अजी, सात वर्ष इसने चाय नहीं पी। सात वर्ष इसने भात नहीं खाया। सात वर्ष तमाकू नहीं पिया और सात वर्ष किसी स्त्री और बच्चे का मुख नहीं देखा।' ...कैदी अपनी मस्त तान से काश्मीरी-भाषा में गाता चला जाता था और सड़कों पर काम करनेवाले कुली, खेतों पर काम करनेवाले किसान, लम्बे कुरते और टोपियाँ पहने काश्मीरी बच्चे मोटर-बस की तेज चाल में से भी कैदी की आत्मा के साथ एकाकार हो रहे थे। और हरी-हरी धान की खेतियाँ, सफेदों से घिरी सड़कें, फलों से झूलते पेड़ और नव-वस्तु के सौरभ से आलोड़ित समूची उपत्यका मानों उसका आतिथ्य कर रही थीं। ...सात वर्षों बाद वह एक स्त्री का दिया हुआ कुद का कलाकन्द खाकर खुश है और जिज्ञासु है कि मिठाई देनेवाली माई जी क्या कल भी होंगी? ...इसी तरह एक छोटी-सी कहानी 'सगाई के दिन' के विद्याधर को स्मृतियाँ इतनी

कचोटती हैं कि उन्हें अपने बचपन के वे दिन याद आते हैं जब पिता के नहीं होने पर माँ से पैसे माँगने पर उनकी विवाहिता बड़ी बहन ने माँ को बुरी तरह डाँटते हुए कहा था - 'बच्चों को बहुत बिगाड़ा न कर, कौन बैठा है तेरा यहाँ कमाने वाला!' और अपने भानजे की तरह ब्लेजर का हरा कोट माँगने पर उनके बहनोई एक डंडा लेकर उसकी ओर दौड़े थे- 'इतना साहस तेरा! कमीने!' ...विद्याधर को आज भी लग रहा था कि जीवन में पिता और माँ का होना कितना जरूरी होता है। क्योंकि जब से उसने होश संभाला, अपने को बड़ी बहन के घर में पलते देखा। ...'मेरी माता जी' में लेखिका पहले भी माँ के महत्व को बता चुकी हैं जब बीमार माँ को देखकर मोटर ड्राइवर बोल उठा था - 'आपणियाँ माँवा ठंडियाँ छाँवा'- अर्थात् अपनी माँ शीतल छाया होती है।

इसी तरह 'वैशाख की रात' में पद्मा के अल्हड़पन का जो वर्णन है, वह अद्भुत है। वे लिखती हैं - 'पानवाले की दूकान से लेकर चौराहे तक का सिपाही उसके आतंक से दुखी है। स्कूल से आते ही गले में उलझे केश डाले, साड़ी का लम्बा छोर पीछे लटकाए, नवजात उद्धत बछड़े की भाँति वह इधर से उधर छलांगें लगाती है। झट से मोहन की साइकिल उठा गली-मुहल्लों के बच्चों को लादे दूर बाग-बाजारों तक चक्कर काटती घूमती है- घर के नौकरों, महरी, धोबी, बच्चों को घर पर पढ़ाने वाले मास्टर तक को रुला, खिजा गिनकर वेतन देती- हँसती, डाँटती है। सारा शहर मानों उसका निजी क्रीड़ा स्थल है। ... नीलिमा उसकी सहपाठिनी है पर यदि उसके काका कविता लिखें, पाठ करें, तो झट कॉपी में लिखने बैठ जाना, सगे भाई-बहनों, अपने घर-बार की सुधि छोड़ उन्हें रसोई के काम में सहायता देना, उसके मधुर कंठ, निष्कपट आँखों, गौरवर्ण ने मानों नव परिचितों को लुभा लिया है। अभी कुछ ही मास पूर्व सामने क्वार्टरों में नया बंगाली परिवार आकर बसा है।' . ..सत्यवती जी की कलम में एक ऐसी जादुई ताकत

है जो कहानी के सामान्य प्लॉट को भी विशिष्ट बना देती है। गंगा प्रसाद विमल ठीक ही कहते हैं कि 'सत्यवती मलिक की कहानियाँ भाषिक संरचना की दृष्टि से हिन्दी की आरम्भिक आधुनिक कहानियाँ कही जाएंगी। उनमें स्पष्टतः बेबाकपन और स्वच्छन्दता की ऐसी भावलहरी प्रतिबिम्बित होती है जो प्रायः दुर्लभ होती है।' ...वे आगे कहते हैं कि 'सत्यवती मलिक और उनकी अनेक समकालीन लेखिकाओं ने हिन्दी कथा की समृद्धि में जो योगदान दिया, वह उल्लेखनीय है। उल्लेखनीय सिर्फ इसलिए नहीं कि वे एक महिला लेखक थीं, बल्कि उल्लेखनीय इस अर्थ में भी कि पुरुष वर्चस्व की कथाओं की तुलना में कथात्मकता का स्वाभाविक प्रभाव भाषिक दृष्टि या अभिव्यंजना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था।' केवल संवेदना का ही पक्ष लें तो स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय भावनात्मकता का अत्यन्त महीन आदर्श पुरुष कथाएं प्रस्तुत नहीं करतीं, अपितु महिला लेखिकाओं की कथाएं प्रस्तुत करती हैं। ...इसे सत्यवती मलिक, होमवती देवी तथा कमला चौधरी की कहानियों में देखा जा सकता है।

सत्यवती मलिक की कहानियों का प्रमुख काल वैसे तो 1951 में समाप्त हो गया था पर वे जीवन पर्यन्त कथा के पात्रों के साथ चलती रहीं। वे काश्मीर पर कहानियाँ लिखनेवाली पहली महिला लेखिका थीं। काश्मीर उनके ख्वाबों का शहजादा था जिससे अलग होकर जीना उनके लिए मुष्किल काम था। उनके जीवन की यही साध भी थी कि वे काश्मीर के लिए जाएं और काश्मीर के लिए मरें। तब का काश्मीर आज का काश्मीर नहीं था जहाँ संगीनों के साये में सुबह होती हो और न ही ऐसा काश्मीर जहाँ घृणा और नफरत का राजनीतिक जाल बुना जाता हो। उनके पुत्र केशव मलिक कहते हैं कि

सत्यवती जी का दृष्टितोण किसी समाज या सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित नहीं रहा। उन्हें जहाँ से प्रकाश मिला उसे ग्रहण करने का प्रयत्न वे निरन्तर करती रही हैं। देखा जाए तो यही प्रकाश उनके जीवन में प्रेम बनकर बरसता रहा जहाँ वे कहती रहीं—

‘आज की रात रहो, प्रिय, आज की रात रहो!

पथ में फूल बिछा देती हूँ

मेरे साजन, आज की रात रहो!’

कहीं यह लेखिका का पाठकों के लिए अपनी कहानियों में रुकने का निमंत्रण तो नहीं? सत्यवती जी मानती थीं कि प्रकृति ने उन्हें कई रूपों में सृजित किया है - माता, पत्नी, बहन और पुत्री के रूप में। एक परिवार के लिए इन सभी की समान उपादेयता है।

उनकी कहानियाँ भारतीय समाज में परिवार का बहुविध महत्व प्रतिपादित करती हैं जिनसे गुजरना जीवन के नये-नये आयामों से परिचित होना है। सत्यवती जी आजादी के दिनों में महात्मा गांधी और कस्तूरबा के जीवन-आदर्शों से बहुत प्रभावित रहीं और उन्हें अपना आदर्श मानती रहीं। सत्यवती जी की छोटी बहन उर्मिला द्वारा लिखित पुस्तक 'कारागार' की भूमिका बा ने ही लिखी थी, सम्भवतः उर्मिला से उनका परिचय कारावास के दिनों में हुआ हो और दोनों ने एक-दूसरे को बखूबी समझा हो। इसलिए भी उनके मन में बा के लिए एक विशेष आदर का भाव रहा। इस तरह सत्यवती जी कथाकार के साथ-साथ एक क्रांतिकारी भी मानी जा सकती हैं, जो आजादी का अर्थ जानती थीं और इससे कुछ भी कम उन्हें स्वीकार्य नहीं था।

संपर्क : 502, महेश अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर

मजरुह सुलतानपुरी के गीतों में वैविध्य का वैभव : संदर्भ – हिन्दुस्तानी फिल्म

- शुभ्रा उपाध्याय

मजरुह सुलतानपुरी का जन्म 1 अक्टूबर 1918 में, ईद की पूर्व संध्या पर आजमगढ़ जिले के सरायमीर थाने के निजामाबाद कस्बे में हुआ था। जहां इनके पिता सिराजुल हक खाँ सिपाही पद पर तैनात थे। मजरुह का पूरा नाम इसरार हसन खाँ था। इनकी शुरूआती शिक्षा पैतृक गांव गजेहड़ी तदन्तर टांडा-अम्बेडकर नगर और सुलतानपुर में हुई। अपनी प्रारंभिक रचनाएं ऐ नासेह नाम से लिख रहे थे बाद में मजरुह सुलतानपुरी नाम से लिखना शुरू किया उन दिनों मजरुह जिला परिषद सुलतानपुर में बतौर हकीम नियुक्त थे। उन्हें यह नौकरी रास न आई, बाद में दवाखाना भी खोला, पर उसमें भी मन न लगा। इन्होंने अंग्रेजी-शिक्षा के माध्यम से मार्क्सवाद और लेनिनवाद का गम्भीर अध्ययन किया, जिसकी छाप इनके रचना संसार के नींव की ईंट बनीं।

मजरुह जितने सुदर्शन थे उनकी ही खूबसूरत आवाज के मालिक भी। बहुत कम समय में ही ये महफिलों की शान बन गये। झुकाव तो इधर था ही, 1945 में मजरुह अपने सपनों की पिटारी थामें मुम्बई के एक मुशायरे में भाग लेने आ गए। यहीं उनकी मुलाकात फिल्म निर्माता ए. आर कारदार से हुई। और 'शाहजहाँ' फिल्म के लिए गीत लिखने का कार्यभार इन्हें प्राप्त हुआ। गीत जब 1946 में कुंदनलाल सहगल की आवाज में आया तो उसने न सिर्फ मजरुह को फिल्मी दुनिया में एक उभरते गीतकार के रूप में स्थापित किया अपितु लोकप्रियता के क्षेत्र में मील का पत्थर भी साबित हुआ। कौन भूल सकता है—

‘गम दिए मुस्तकिल, कितना नाजुक हैं दिल, ये न जाना

हाय हाय ये ज़ालिम ज़माना।।’

और

‘जब दिल ही टूट गया, हम जी के क्या करेंगे’

1946 में प्रदर्शित शाहजहाँ से मजरुह सुलतानपुरी का जो फिल्मी सफर शुरू हुआ तो सन् 2000 में प्रदर्शित 'क्या कहना' यानि की लगभग 55-60 वर्षों तक हिन्दुस्तानी फिल्मों में मजरुह का ही दौर चलता रहा। इसके पड़ताल की ज़रूरत है। असल में हिन्दुस्तानी फिल्मों की एक खास बात है जो उसे दुनिया में बनने वाली अन्य फिल्मों से अलग करती हैं—वह हैं हिन्दी फिल्मों के गाने। जो सचमुच आज साहित्यिक धरोहर के रूप में हमारे पास है। जिन्हें पढ़ने और समझने की ज़रूरत है। सामान्य तौर पर फिल्मी गीतकारों को साहित्य की दुनिया में गम्भीरता से न लेने का चलन है। किन्तु सचमुच यदि गम्भीरता से देखें तो शैलेन्द्र, साहिर लुधियानवी, शकील बदायूनी और मजरुह सुलतानपुरी जैसे कई शायरों ने ऐसे अनगिनत नायाब फिल्मी गीत दिए हैं जो आज भी करोड़ों दिलों में धड़कनों की तरह बसे हुए हैं। निश्चित ही यह सिर्फ तुकबंदी और संगीत का ही कमाल नहीं हैं। यह उन गीतों की ताकत का कमाल है। उसकी कविताई का कमाल हैं। हिन्दुस्तानी फिल्मों के कुछ ऐसे गीतकार जिन्होंने फिल्म

और साहित्य दोनों को ही अपने सशक्त हस्तक्षेप से समृद्ध किया, ऐसे एक अज़ीम शायर, एक श्रेष्ठ कवि के रूप में मजरुह सुलतानपुरी सबसे पहले हमारे सामने आते हैं।

मजरुह अपनी रचनाओं में कहीं भी धुंध के शिकार नहीं होते। उनके पास एक स्पष्ट जीवनदृष्टि है। इसीलिए उनकी कविता जीवन का हिस्सा है। वह जीवन से शुरु होती है और जीवन में ही पर्यवसित होती है। उनकी शायरी पर गौर करें तो वह भारतीय दर्शन की परम्परा से जुड़ती दिखाई देती है। वे बुद्ध की तरह जन-जन की पीड़ा से क्षुब्ध थे। कबीर की तरह सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए तत्पर। वे सामाजिक जड़ता पर चोट भी करते हैं तो अद्वैत दर्शन की गहराइयों में भी उतर जाते हैं। मानवता के प्रति उनकी स्पष्ट पक्षधरता, मनुष्य मात्र में अटूट विश्वास और मनुष्यता से नेह के नातों ने उन्हें इतनी सामर्थ्य दी कि वे 'अहम् ब्रह्मास्मि' की भांति दो टूक कह सकें— हम हैं काबा, हम हैं बुतखाना, हमीं हैं कायनात हो सके तो खुद को भी, एक बार सजदा कीजिए।

कहने की जरूरत नहीं कि इतनी साफगोई से यह बात वही कह सकता है जिसमें आत्मविश्वास की ठसक और ईमानदारी की चमक मौजूद हो।

मजरुह ढुलमुल रवैये के सख्त खिलाफ हैं —
आ निकल के मैदां में, दो रुखी के खाने से
काम चल नहीं सकता, अब किसी बहाने से।
मैं कि एक मेहनतकश, मैं कि तीरगी दुश्मन
सुब्हे नौ दबारत हैं, मेरे मुस्कुराने से।

मजरुह के पास गांव से लेकर महानगरों तक की जिन्दगी का व्यापक अनुभव था। उनकी रचनाओं में लोक जीवन, अपने मानव, अभिव्यक्ति, भाषा, बोली, प्रकृति एवं विविध रंगों के साथ हमेशा धड़कता रहा। लोक की उनकी पकड़ ही थी जिसके कारण उनके पास विषय वस्तु का विशाल भण्डार और शब्द, बिम्ब का अकूत खजाना था।

भोजपुरी, अवधी, खड़ीबोली के लालित्य का स्पर्श, अरबी फारसी के चुस्त मिसरे उनकी भाषा की चित्रात्मकता को चार चांद लगाते थे। उन्होंने शुद्ध उर्दू के कितने ही शब्द फिल्मी गीतों को दिए हैं। जिनका आज खूब उपयोग हो रहा है। जिलरूबा, सनम, जानेमन, वल्लाह, माशा अल्लाह, बंदानवाज, मोहतरमा जैसे उर्दू के शब्द मजरुह से पहले गीतों में शायद ही प्रयोग किए गए हों। मजरुह हिन्दुस्तानी फिल्मों के एक सफल गीतकार ही नहीं अपितु उर्दू गज़ल खासकर प्रगतिशील गज़ल का एक बेहद जरूरी नाम भी है। वही वजह है कि उनके फिल्मी गीत भी साहित्यिक गरिमा से सम्पन्न होते हैं। इसके कारण ही उनकी एक अलग पहचान कायम होती है। उनके फिल्मी गीतों का फलक अत्यंत विशाल एवं वैविध्य से परिपूर्ण है। एक ओर जहां संसार से बेगानपन दिखता है —

थी यू तो आपस में बिगड़ते हैं, खफा होते हैं
मिलने वाले कहीं उल्फत में जुदा होते हैं
(अंदाज 1949)

थी हमारे बाद अब महफिल में अफसाने बयां होंगे
बहारें हमको ढूँढेगी न जाने हम कहां होंगे
(बागी 1953)

वहीं गुस्से से भरे तेवर भी देखने को मिलते हैं—
थी ये महल ये, नज़ारे ये घर फूंक दो
आओ आकर, ये सारा नगर फूंक दो
चाहिए इक जमीं, इसक नया आसमां
आके भगवान अपना, जहां फूंक दो
(कीमत, 1946)

थी हर ज़बां रुकी रुकी, हर नजर झुकी झुकी
क्या यही हैं जिन्दगी, क्या यही हैं जिन्दगी
(बाज़, 1953)

जिन्दगी के ऐसे रूप का प्रतिकार भी करते हैं,
आगे लिखते हैं—

जालिमों का हर गुरु ख़ाक में मिला के चल
जुल्म जिस कदर बढ़े और सर उठा के चल

इंतकाम की मशाल हाथ में जला के चल
एक वतन के नौजवां जाग, और जगा के पल
(बाज़, 1953)

दो जून की भूख मिटाने के लिए जिन्दगी की
ज़द्दोज़हद में लगे लोगों के दुखों को मजरुह ने
ससम्मान अभिव्यक्ति दी हैं —

दीवाना आदमी को बनाती हैं रोटियाँ
खुद नाचती हैं सबको नचाती हैं रोटियाँ
बूढ़ा चलाए ठेले को, फ़ाकों से झूल के
बच्चा उठाए बोझ, खिलौने को भूल के
देखा न जाए जो जो, सो दिखाती हैं रोटियाँ
(काली टोपी लाल रुमाल 1959)

हमारे समाज में व्याप्त जाति-पांति, ऊंचनीच, अमीर
गरीब के दारुण दंश को भी मजरुह ने अपने गीतों
के माध्यम से व्यक्त किया है—

बने हैं एक खाक से, तो दूर क्या करीब क्या
लहू का रंग एक है, अमीर क्या गरीब क्या
वो ही जां, वो ही तन, कहां तलक छुपाओगे
पहन के रेशमी लिबास, तुम बदल न पाओगे
गरीब हैं वो इसलिए कि हम अमीर हो गए
के एक शाहंशाह हुआ, तो सौ फ़कीर हो गए
ख़ता है यह समाज की, भला बुरा नसीब
क्या/लहू....

(आरती 1962)

मजरुह न सिर्फ़ रोग पहचानते, उसका निदान देते
नजर आते हैं अपितु पहल करने का साहस भी
जुटाते हैं—

जो एक हो, तो क्यों ना फिर दिलों का दर्द बांट लो
लहू की प्यास बांट लो, रूको कि दर्द बांट लो
लगा लो सबको तुम गले, हबीब क्या रकीब क्या
लहू का रंग एक हैं अमीर क्या गरीब क्या

(आरती 1962)

कोई सन्देह नहीं कि यह वही आवाज थी
जिसके कारण मजरुह जेल की जिन्दगी भी जी कर
आ चुके थे किन्तु अपने विश्वास, समय और

पक्षधरता से समझौता उनके स्वाभिमान को कुबूल
न था। रुमानियत हिन्दुस्तानी फिल्मों का एक
अहम हिस्सा है। इस दृष्टि से भी मजरुह का कोई
सानी नहीं। खास बात तो यह है कि समयानुसार
हर पीढ़ी के मुहावरों के साथ वे अपनी संगति बैठा
लेते हैं, फलतः लाख परिवर्तनों के बावजूद वे ही
सबकी जुबान पर चढ़े रहते हैं। एक तरफ जहां वे
'शाम-ए-गम की कसम', 'मुझे सहल ही गई मंजिलें',
'हम हैं मताए-कूचा ओ बाज़ार की तरह', 'हमको
जुनूँ क्या सिखलाते हो', 'जला के मिशअले जां,
हम जुनूँ सिफात चले', 'पहले सौ बार इधर और
उधर देखा है,' 'बैठा है ज़िदल अज्मे बेबाकाना
बरसो से' लिखते हैं वही दूसरी ओर 'रात कली
इक ख्वाब में आई', 'कितना प्यारा वादा है', 'ओ
मेरे दिल के चौन', 'चुरा लिया है तुमने जो दिल',
'दिल कहता है चल उनसे मिल' और 'पापा कहते
हैं बड़ा नाम करेगा', 'डैडी से पूछ लेना' और 'लव
हुआ' जैसे गीत भी लिखते हैं।

हिन्दुस्तानी फिल्मों में संवाद शैली में गीत
लिखकर मजरुह ने अपनी एक अलग पहचान
बनाई है। इस दृष्टि से 'छोड़ दो आंचल ज़माना
क्या कहेगा', 'अच्छा जी मैं हारी चलो मान जाओ
ना', 'एक लो मैं हारी पिया', 'लागी छूटे ना अब
तो सनम', 'लिखा है तेरी आंखों में किसका
अफसाना' और 'तेरी बिंदिया रे' आदि की
लोकप्रियता असंदिग्ध है।

ऐसे सैकड़ों गीत हैं मजरुह साहब के जो
प्रसिद्धि और पसंदगी के शिखर पर जगमग सितारों
की तरह निरंतर चमक रहे हैं।

मजरुह ने अपने गीतों में कई अनुछुए विषयों
को भी अत्यंत संजीदगी के साथ व्यक्त किया है।
इस नज़रिए से उनके दो-एक गीतों का उल्लेख
आवश्यक हो जाता है—

जाने वालों, जरा, मुड़ के देखो मुझे
एक इंसान हूँ मैं तुम्हारी तरह

जिसने सबको रचा, अपने ही रूप से
उसकी पहचान हूँ, मैं तुम्हारी तरह
(दोस्ती - 1964)

हिन्दुस्तानी कितनों में दिव्यांग जनों पर इतनी
संवेदनशलता से लिखे गीतों की संख्या निश्चय ही
बहुत कम है।

किन्नरों के लिए लिखते समय भी मजरुह
आत्मीय तरलता से भरे दिखते हैं। 'सज रही गली
मेरी मां' (कुंवारा बाप, 1974) शायद हिन्दुस्तानी
फिल्मों में किन्नरों के लिए लिखा गया पहला गीत
था। विषय वैविध्य की दृष्टि से मजरुह यहीं नहीं
थमते। दार्शनिक की तरह सुख दुख की अनुभूति
में द्वांद्व बंधाते हैं— 'राजी मनवा दुख की चिंता
क्यों सताती है, दुख तो अपना साथी हैं।'।

हिन्दुस्तानी फिल्मों में 'लोरियों' की दृष्टि से
भी मजरुह का अवदान उल्लेखनीय है। अब तो
लगभग इन बाल गीतों को लिखने का चलन ही
बंद होता सा दिखाई देता है। लोरियाँ लिखते
समय मजरुह एक स्नेहिल अभिभावक की तरह
आंकठ भावों में डूबे रहते हैं। कुछ लोरियाँ दृष्टव्य
हैं—

अंखियां में छोटे-छोटे सपने सजाय के
बहियों में निदिया के पंख लगाय के
(नौकर, 1979)

एक दिन हंसाना एक दिन रुलाना
जीवन की रीत पुरानी, सोजा रे नीं सुहानी
(बेनाम, 1974)

नन्ही कली सोने चली, हवा धीरे आना
नींद भरे पंख लिए, झूला फुला जाना
(सुजाता, 1959)

ओ री हवा धीरे से चल, सोता है मुन्ना हमारा
झूले में कैसे टिमटिम तारे, मां के नसीबों का तारा
(श्रीमान श्रीमती, 1982)

मजरुह सुलतानपुर के थे। उनके गीतों में
अवध की खुशबू विद्यमान हैं। हिन्दुस्तानी फिल्मों
की वह नायिका मजरुह की भी नायिका है जो
'नदिया किनारे कंगना हेरवा' (हेराय आई) देती हैं,
अपना मन 'बूझने' को कही हैं, जिसके अंगन में
'पीपल झूमता' है। यह मजरुह ही हैं जिनका 'राही
मनवा' सुख दुख के दर्शन के बारे में बातें करता
है। अवधी भोजपुरी, ब्रजी, गुजराती, पंजाबी आदि
भाषाओं के रंग भी मजरुह ही है जो लिखता है
कि—

हम हैं मता-ए-कूया-ओ-बाज़ार की तरह
उठती है हर निगाह खरीददार की तरह
(दस्तक 1970)

तो उसकी लोक चेतना, लोक रंग के साथ
अभिभूत ही—

'ठाढ़े रहियो ओ बांकेयार' जैसी पंक्ति में
भाषायी संगम का अनूठा उदाहरण भी पेश करती
हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सुलतानपुर
की आबोहवा, अदब और तहजीव को हिन्दुस्तानी
फिल्मों तक ले जाकर दादा साहब फालके पुरस्कार
से सम्मानित मजरुह ने सुलतानपुर को भी एक नई
पहचान दिलाई।

हिन्दुस्तानी फिल्मों के ऐसे सदाबहार शायर
को उन्हीं के एक शेर से नमन करना चाहूँगी—

रोक सकता हमें जिन्दानेबला (आफ़त का
कैदखाना) क्या मजरुह हम तो आवाज़ हैं, दीवार
से ठन जाते हैं।

लता मंगेशकर : सुरों की अमिट दास्तान

“तुम मुझे यूँ भूला न पाओगे”

- प्रीति सिंह

लता मंगेशकर संगीत की दुनिया की किंवदंती, जिनका जाना एक युग का अवसान है। उनके सम्मान में गढ़े गये सुर साम्राज्ञी, सुरों की मल्लिका जैसे उपमान भी कमतर प्रतीत होते हैं। वे नब्बे पार थीं। लगभग आठ दशक तक उनका पार्श्वगायन बेमिसाल रहा। उनके गाये गीतों की संख्या ‘गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड’ में दर्ज है। यदि संख्या की बात को नजरअन्दाज भी कर दें तो उन गीतों की कर्णप्रियता, साफ-सुथरा बोल, मधुर स्वर लहरी कानों के वरास्ते सीधे अन्तर्मन में उतरती है। मन को सहलाती है, गुदगुदाती है और बाँधती भी है।

लता मंगेशकर का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों अतुलनीय है। उनकी जादुई आवाज के दीवाने दुनियाभर में हैं। यदि बात उनके व्यक्तित्व की, की जाए तो वह लाखों-करोड़ों में एक हैं। सौम्य, सुशील, मृदुभाषी, सरल, सहज, ममतामयी संवेदनशील और भी ढेरों उपमान आप उनके व्यक्तित्व में जोड़ते जाएँ, वह बिल्कुल सटीक बैठेगा। यह उनके विराट व्यक्तित्व का परिचायक है कि वे जमाने भर की लता दीदी बन गई और उनके जीवनकाल में ही उनके नाम पर संगीत के लिए उल्लेखनीय योगदान करने वाले पार्श्व गायक, गायिका और संगीतकारों को लता मंगेशकर सम्मान प्रदान किया जाता है। यहाँ दीगर बात यह भी है कि उनके नाम पर सम्मान एकसाथ मध्यप्रदेश (लता जी का जन्म-स्थान) और महाराष्ट्र सरकार (लताजी की कर्मस्थली) दोनों प्रदान करते हैं। वास्तव में यह दोनों ही राज्यों के सरकारों का लता जी के प्रति अभिव्यक्त सम्मान ही है। दूसरी ओर, उनके कृतित्व की विशालता का ही परिचायक है कि प्रतिष्ठित टाइम पत्रिका ने उन्हें भारतीय पार्श्वगायन की अपरिहार्य और एकछत्र साम्राज्ञी स्वीकार किया। उनको मिले सम्मानों की फेहरिस्त काफी लम्बी है।

लता जी का स्मरण अनेक मायने में प्रासंगिक है। वे आज मुकाम पर पहुँची हैं, उसके पीछे संघर्ष, त्याग, लगन, साधना, निष्ठापूर्वक श्रम की महत्वपूर्ण भूमिका रही। प्रतिष्ठा और स्टारडम का उन्हें लेशमात्र भी भान न था। उनकी जिह्वा पर सरस्वती बसती थी। उनके मुखमंडल पर ओज और तेज सदैव दृष्टिगोचर रहता था। उनके इर्द-गिर्द वातावरण रमणीय बना रहता और उनका आभामंडल सूर्य की भाँति केन्द्रीय बना रहता जिसके इर्द-गिर्द तमाम ग्रह परिक्रमा करते प्रतीत होते। हम लता को एक साथ अनेक रूपों में देख सकते हैं। महज चार साल की आयु से ही संगीतकार पिता के नक्शे-कदम पर शास्त्रीय गायन की साधना का आरम्भ और तेरह वर्ष की आयु में पार्श्वगायन। लता के लता बनने में उनके जीवन संघर्ष की बड़ी भूमिका रही। कहा जाता है कि जिम्मेदारियाँ उन्हीं को मिलती है जो उसे वहन करने योग्य होता है। अल्पायु में ही पिता का साया सिर से उठ जाना किसी त्रासदी से कम न था। ऐसे में चार बहन-भाइयों में सबसे बड़ी लता के नाजुक कंधे पर परिवार चलाने की बड़ी जिम्मेदारी का आना भविष्य के गर्भ में एक सितारा के उदित होने का आगाज था। आरम्भ में मराठी फिल्मों में अभिनय फिर कुछेक हिंदी फिल्मों में भी अभिनय परिवार के भरण-पोषण का जरिया बना फिर यही विवशता शास्त्रीय गायन

को उन्हें फिल्मी गीतों की ओर उन्मुख किया। उनका संघर्ष अनुकरणीय रहा है।

मध्यप्रदेश के शहर इंदौर में 28 सितम्बर 1929 में जन्मी लता के बचपन का नाम हेमा मंगेशकर था। पिता संगीत शिक्षक होने के साथ ही रंगमंच के कलाकार भी थे। संगीत उन्हें विरासत में मिला। यूँ कहें कि उनकी माताजी को छोड़कर पूरा परिवार संगीत को समर्पित रहा और सभी ने संगीत की दुनिया में अपना मुकाम हासिल किया। पिता की मृत्यु के बाद यह लताजी ही थी जिसने अपने भाई-बहनों को पिता की तरह पालन-पोषण कर आगे बढ़ाया। उन्होंने लगभग 36 एक भाषाओं में गीत गाकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। सभी भाषाओं में उनके द्वारा गाये गीतों की प्रधानता और धूम रही है। एक से बढ़कर एक कर्णप्रिय व रूह में उतर जाने वाला गीत-संगीत।

लता मंगेशकर का नाम जहन में उभरते ही एक बेदाग छवि की शालीन महिला, त्याग और तेज की स्वामिनी, आवाज की दुनिया का सबसे चमकदार सितारा का स्मरण हो उठता है। हर कोई लता जी के व्यक्तित्व और गायकी के कायल रहे हैं। उनका गायन श्रेष्ठता के तमाम मानकों की कसौटी पर खरा उतरता है। महानतम मरहूम गायक गुलाम अली के कथन प्रमाण है कि, “कमबख्त गलती से भी बेसुरी नहीं होती।”

लताजी के व्यक्तित्व का एक विराट पक्ष यह भी रहा है कि वे सदैव सीखने को तत्पर रहतीं। नूरजहाँ से लेकर पं. भीमसेन जोशी तक वरिष्ठ संगीत शिरोमणि उनके आदर्श रहें। रिकॉर्डिंग के समय स्टूडियो में वे पीठिका पर नंगे पाँव गाती थी जो उनका अपने संगीत कर्म के प्रति सम्मान और निष्ठा को दर्शाता है। मोहम्मद रफी, मुकेश, मन्ना डे, किशोर कुमार सरीखे वरिष्ठतम गायकों से लेकर मोहम्मद अजीज, सुरेश वाडेकर, शब्बीर कुमार, येसुदास की दूसरी पीढ़ी और कुमार सानू,

उदित नारायण, सोनू निगम आदि की नयी पीढ़ी के साथ पूरे अस्सी वर्ष व्यतीत किये। मजे की बात है कि जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती गयी वैसे-वैसे उनकी आवाज जवाँ होती गयी। ट्रांजिस्टर पर बिनाका गीतमाला कार्यक्रम और दूरदर्शन के कार्यक्रम चित्रहार में प्रस्तुत होने वाले गीत लताजी के गीतों से सँवर उठते थे।

लताजी जैसी कोई नहीं। लता एक ही है और एक ही रहेगी। यह इस संसार का सार्वभौम सत्य है कि देह की एक आयु होती है। जीवन-मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मृत्यु अयाचित है और यह आयी भी, दिन था रविवार और तारीख थी 06 फरवरी 2022, संयोग देखे, वसंत पंचमी देवी सरस्वती के आगमन से पूरा देश हर्षोल्लास में डूबा था। दिवस षष्ठी, देवी सरस्वती के विसर्जन की बेला में सरस्वती की यह पुत्री अपनी अंतिम यात्रा पर प्रस्थान कर गई। यह दो देवी के गमन और विसर्जन का अद्भुत संयोग था जिसने पूरी कायनात को गहरे सदमे में डाल दिया। लताजी के लिए आम और खास, अपने और पराये, देशवासी और विदेशी सबकी आँखें नम हुईं। वाकई यह एक तेज के अंधेरे में विलीन हो जाने से एक सबसे अधिक चमकदार तारे का ब्लैक होल में समा जाने जैसा रहा। आज लताजी का पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, किन्तु उनकी आवाज का जादू सदैव फिजाओं में तैरती रहेगी। उनकी कोकिल स्वर लहरी अनन्त काल तक इस जहान में गूँजता रहेगा।

हिन्दी प्राध्यापिका (SACT)

खान्द्रा कॉलेज

पश्चिम बंगाल

मन्नू भंडारी होने का मतलब

- गीता दूबे

मन्नू भंडारी की पहली रचना कब पढ़ी थी, वह तो याद नहीं लेकिन इतना जरूर याद है कि जब बचपन से किशोरावस्था की यात्रा करते हुए मेरी रुचि हिंदी कथा-साहित्य की ओर जागृत हुई तो प्रेमचंद के अलावा जिन लेखिकाओं के साहित्य ने प्रभावित किया उनमें एक महत्वपूर्ण नाम मन्नू भंडारी जी का था। कॉलेज में पढ़ने लगी तो इनके नाम और रचनात्मक अवदान के चर्चे सुनाई देने लगे। कोलकाता के हिंदी अध्यापक और साहित्यकार इस गर्व बोध से भरे नजर आते थे कि मन्नू जी का कलकत्ते से प्रगाढ़ रिश्ता रहा। कहा जा सकता है कि उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का गठन भी यहीं रहते हुए हुआ। पहली कहानी 'मैं हार गई' (1956) यहीं रहते हुए छपी और इसी नाम से प्रथम कहानी संग्रह (1957) भी उनके कलकत्ता में रहते हुए ही राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। राजेन्द्र जी के साथ उनका प्रेम भी यहीं परवान चढ़ा। उस समय मन्नू जी बालीगंज शिक्षासदन में हिंदी की अध्यापिका के रूप में कार्यरत थीं और राजेंद्र जी स्कूल की पुस्तकालय को संवारने तथा पुस्तकों का चयन करने के लिए नियुक्त किये गये थे। उनका विवाह इसी स्कूल के प्रांगण में संपन्न हुआ था और बिटिया टिकू अर्थात् रचना का जन्म भी इसी कलकत्ते में हुआ। स्कूल में अध्यापन के बाद उन्होंने कुछ अरसा रानी बिड़ला कॉलेज में भी अध्यापन-कार्य किया इसलिए कलकत्ते के लोगों का उन पर हक जताना स्वाभाविक ही है। बाद में मन्नू जी राजेन्द्र जी के साथ दिल्ली चली गईं लेकिन कलकत्ता के लोगों के दिलों में हमेशा बनी रहीं। मेरी एक मित्र हैं, रेणु गौरीसरिया जो बालीगंज शिक्षा सदन में मन्नू जी की शिष्या थीं और वर्षों उसी स्कूल में अध्यापन करने के बाद अवकाश ग्रहण कर चुकी हैं। रेणु दी के सामने मन्नू जी का नाम भर ले लो कि उनका चेहरा मन्नू जी के प्रति स्नेह और आदर की आभा से चमक उठता है, दिल-दिमाग में बसे अनंत किस्सों का दरवाजा खुल जाता है और वह उमंगते हुए अपनी स्मृतियों को साझा करने लगती हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'ज़करिया स्ट्रीट से मेफ़ेयर रोड' में भी मन्नू जी से जुड़े कई प्रसंगों को भावभीने ढंग से चित्रित किया है। ऐसा सिर्फ उनके साथ ही नहीं है बल्कि बहुत से लोग, वे लेखक हों या साधारण पाठक अगर एक बार मन्नू भंडारी के संपर्क में आए, अब वह रचनात्मक हो या व्यक्तिगत, उनके सहज- सरल और स्नेहिल व्यक्तित्व के सम्मोहन से मुक्त नहीं हो सकते।

कह सकती हूँ कि मन्नू भंडारी के बारे में सुन- सुन कर ही उनके प्रति मन में श्रद्धा मिश्रित प्रेम ने स्थान बना लिया था। कॉलेज में पढ़ते समय स्कूल के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाते हुए उनकी किताबों में मन्नू जी की दो कहानियाँ पढ़ीं- 'खोटे सिक्के' और 'दो कलाकार'। संभवतः 'रानी माँ का चबूतरा' भी उसी दौरान पढ़ी। स्वाभाविक रूप से इन कहानियों ने न केवल अपनी विषयवस्तु के कारण बल्कि बेहद सहज शैली और सरल भाषा के कारण भी प्रभावित किया। उस दौरान उनके दोनों उपन्यासों 'आपका बंटी' (1971) और 'महाभोज' (1979) की बड़ी चर्चा थी। 'आपका बंटी' पढ़ने की सलाह तो अध्यापिकाएँ तपाक से देती थीं और स्वाभाविक ही था कि अपने महाविद्यालय के अति समृद्ध पुस्तकालय से लेकर यह उपन्यास मैंने पढ़ा। पढ़ते हुए बहुत बार मन तकलीफ से भर गया और आँसू छलक आए। ये आँसू उन आँसुओं से बिल्कुल अलग थे जो 'गुनाहों का देवता' पढ़ते हुए उमड़े थे। कहा जाता है कि यह उपन्यास मोहन राकेश के जीवन

से प्रेरित था और इस ने समाज को दिशा देने का काम किया। इसे पढ़ने के बाद न जाने कितने दंपतियों के बीच विवाह-विच्छेद इसलिए टल गये क्योंकि वे अपने बच्चों को बंटी की तरह अधर में झूलते नहीं देख सकते थे। बंटी का दुख तो सबने देखा, मन्नू जी की तारीफ भी की कि उन्होंने सैकड़ों परिवारों को टूटने से बचा लिया लेकिन मन्नू जी की पीड़ा यह रही कि बंटी के दर्द के पीछे शकुन का दर्द छिप गया। उस पर पाठकों की निगाह उस तरह नहीं पड़ी जिस तरह लेखिका ने चित्रित किया था। विवाह टूटने से परिवार बिखरता है और बच्चे भटकाव का शिकार होते हैं लेकिन एक स्त्री, जिस पर तलाक थोप दिया जाता है किस तकलीफ से गुजरती है, इस सच की ओर भी मन्नू जी समाज के लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहती थीं। परिवार में जब दरकन इतनी ज्यादा हो जाती है कि उसका बना रहना मुमकिन नहीं होता तो टूटना ही बेहतर होता है। लेकिन टूटन की यह प्रक्रिया स्त्री को भी अंदर तक तोड़ देती है। शकुन की मानसिक उथल-पुथल और पीड़ा को मन्नू जी ने कुशलता से उकेरा है- “एक अध्याय था, जिसे समाप्त होना था और वह हो गया। दस वर्ष का यह विवाहित जीवन- एक अंधेरी सुरंग में चलते चले जाने की अनुभूति से भिन्न न था। आज जैसे एकाएक वह उसके अंतिम छोर पर आ गई है। पर आ पहुँचने का संतोष भी तो नहीं है, ढकेल दिए जाने की विवश कचोट-भर है। पर कैसा है यह छोर? न प्रकाश, न वह खुलापन। न मुक्ति का एहसास। लगता है जैसे इस सुरंग ने उसे एक दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया है- फिर एक और यात्रा- वैसा ही अंधकार, वैसा ही अकेलापन।” तकलीफ इस बात की भी है कि टूटने का सारा दोष स्त्री के सिर पर ही पड़ता है। उसे ही सुनना पड़ता है कि वह अपने पति को बाँध कर नहीं रख पाई। शकुन का चरित्र गढ़ते हुए मन्नू जी ने उसे आम पारंपरिक औरतों से अलग गढ़ा। वह उसे आधुनिक

दृष्टि से संपन्न नारी के रूप में गढ़ती हैं जो पुत्र की देखभाल को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य ना मानकर अपनी खुशी और इच्छाओं के बारे में भी सोचती है और इसीलिए पुनर्विवाह का निर्णय लेती है। इसका एक कारण संभवतः पूर्व पति अजय को यह दिखाना भी था कि अगर वह उसे मीरा के लिए छोड़ सकता है तो शकुन भी डॉक्टर जोशी के साथ नयी जिंदगी की शुरुआत कर सकती है। वह नये वैवाहिक रिश्ते में अपने और बंटी के लिए खुशियाँ तलाशने की कोशिश करती है। लेकिन अपने इस निर्णय के लिए भी उसे लोगों की व्यंगपूर्ण दृष्टि का सामना करना पड़ता है। फूफी तो उसके मुँह पर ही कहती है- ‘जवानी यों ही अंधी होती है बहूजी, फिर बुढ़ापे में उठी हुई जवानी। महासत्यानाशी! साहब ने जो किया तो आपकी मिट्टी- पलीद हुई और अब आप जो कर रही हैं, इस बच्चे की मिट्टी पलीद होगी। चेहरा देखा है बच्चे का? कैसा निकल आया है, जैसे रात दिन घुलता रहता हो भीतर ही भीतर।’ हालांकि इस विवाह के बावजूद न शकुन को खुशी मिलती है न बंटी को। शकुन तो परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती भी है लेकिन बंटी असुरक्षा बोध से घिरकर, मानसिक उथल-पुथल से भरकर पिता के पास भेजा जाता और फिर वहाँ भी सामंजस्य न बिठा पाने के कारण अंततः छात्रावास भेजा जाता है। उपन्यास के इस कारुणिक अंत ने तो बहुत से परिवारों को बिखरने से बचा लिया लेकिन स्वयं मन्नू जी ने अपने परिवार को बचाए रखने के वर्षों के प्रयास के बाद खुद ही उसे तोड़ने का निर्णय लिया था। यह बात और है कि तब तक काफी देर हो चुकी थी। पारिवारिक दायित्वों के प्रति राजेंद्र जी का असहयोगात्मक आचरण और वर्षों तक किया गया मानसिक उत्पीड़न, जो शारीरिक हिंसा से कई गुना ज्यादा घातक होता है, ने मन्नू जी के मन पर गहरा आघात किया था। उनकी रचनात्मकता को क्षति पहुँचाई थी और एक लेखक के लिए सृजन न कर

पाने की पीड़ा असहनीय होती है। संभवतः इसी पीड़ा ने उन्हें उस स्नायु रोग की ओर ढकेला जिसने अंततः उनकी जान ले ली। ओमा शर्मा ने उनसे की गई बातचीत में जो 'मेरे साक्षात्कार' (2015) में संकलित है, जब उनसे उनके दुखों के बारे में पूछा तो मन्नू जी का जवाब उनकी व्यथा को बयान करने के लिए काफी है- 'न लिख पाने का दुख है। और वैसे कहूँ तो राजेंद्र ने मुझे बहुत दुख दिए हैं। बहुत रातें मैंने रोकर काटी हैं। इतने तनाव में रही हूँ।... इस बीमारी का मुख्य कारण तनाव ही बताया जाता है। मैं राजेंद्र से कहती भी हूँ कि आपने मुझे और कुछ दिया हो या न दिया हो, यह बीमारी जरूर दे दी है।'

बाद में मैंने उनका उपन्यास 'महाभोज' भी पढ़ा और ढेरों कहानियाँ भी। 'महाभोज' के यथार्थ चित्रण ने दिमाग को सुन्न कर दिया। भ्रष्टाचार से घिरी राजनीतिक व्यवस्था में कहीं कोई आशा की किरण दिखाई नहीं देती। भारतीय राजनीति पर छाए कृष्ण पक्ष की कथा बड़ी कुशलता और सघनता के साथ ही विश्वसनीयता के साथ मन्नू जी ने लिखी। मूल्यहीनता भारतीय राजनीति में नये मूल्यबोध के रूप में स्थापित हो रही है और मूल्यों की बात करने वालों को या तो बिसेसर की तरह जहर दे दिया जाता है, बिंदा की तरह जेल में ठूस दिया जाता है, सक्सेना की तरह सस्पेंड कर दिया जाता है या फिर लोचन की तरह बिल्कुल अलग-थलग कर दिया जाता है और आम जनता रुक्मा की तरह रुदन करती रहती है। भारतीय राजनीति के विकास की गौरवगाथा (?) में सांसदों और मंत्रियों के खरीद-फरोख्त के ढेरों किस्से हमने पिछले कुछ वर्षों में खूब पढ़े और सुने। अपने इस उपन्यास में इस तरह की घटनाओं का यथार्थ चित्रण करते हुए मन्नू जी ने इस ओर संकेत किया है कि आगामी वर्षों में राजनीति कितनी अधिक भ्रष्ट और दूषित होने वाली है और वर्तमान समय में यह साफ नजर आ रहा है। गीतापाठी तथाकथित

धार्मिक नेता दा साहब किसी गिद्ध की तरह जनता की आशाओं, आकांक्षाओं यहाँ तक कि उनके जीवन तक की बलि चढ़ाकर किस तरह अपनी महत्वाकांक्षाओं का महाभोज संपन्न करते हैं, इसका मर्मस्पर्शी चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। विषयवस्तु के नयेपन और वर्णन शैली की जीवंतता ने न केवल पाठकों को प्रभावित किया बल्कि साहित्यिक हलके में भी उनके व्यक्तित्व को नई ऊँचाइयाँ प्रदान की। घर-परिवार और समाज की सीधी-सरल कहानियाँ कहने वाली लेखिका के रूप में जानी जाने वाली मन्नू जी की स्वीकृति नये रूप में हुई। राजेन्द्र यादव प्रेमी आलोचकों ने उनके व्यक्तित्व को हमेशा राजेन्द्र जी से कम करके आंका लेकिन आम पाठकों की बात करें तो मन्नू भंडारी हमेशा उनके हृदय के अधिक निकट रही हैं। उनकी रचनाएँ अपनी जीवंतता और रवानी में पाठकों को सहजता से बाँध लेती हैं। इस उपन्यास का नाट्य रूपांतरण उन्होंने स्वयं किया जो 1983 में प्रकाशित हुआ। इसका मंचन पहली बार राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के रंग-मंडल ने मार्च 1982 में किया और देश भर में अब तक इसके कई सफल मंचन हो चुके हैं। प्रसिद्ध रंगकर्मी ऊषा गांगुली जी ने भी कलकत्ते में इस नाटक का सफल मंचन किया।

षण्क इंच मुस्कान जिसे लेखक दंपति ने प्रयोग के तौर पर मिलकर लिखा था मैं भी मन्नू जी के अध्याय अधिक स्वाभाविक और पठनीय बन पड़े हैं और इस तथ्य को स्वयं राजेंद्र जी ने अपने लेखकीय वक्तव्य में स्वीकार किया है। हालांकि यह प्लॉट भी मन्नू जी का ही था जिसे इस प्रयोग के लिए राजेंद्र जी ने चुन लिया था और मन्नू जी को समझा- बुझा कर राजी भी कर लिया था। यह बात और है कि मन्नू जी को इसका कोई मलाल नहीं रहा। एक प्रेम त्रिकोण जो जितना काल्पनिक था उतना ही सच, की दुखांत कथा इस प्रयोगधर्मी उपन्यास में अत्यंत सशक्त ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

मन्नू जी की कहानियों की बात करें तो 'एखाने आकाश नाई', 'स्त्री सुबोधिनी', 'ईसा के घर इंसान', 'एक प्लेट सैलाब', 'सजा', 'नायक-खलनायक विदूषक' समेत उनकी तकरीबन सभी कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं और सबने अपना अलग-अलग प्रभाव डाला है। कामकाजी औरतों की दुनिया से हमारा प्रथम परिचय मन्नू जी ही करवाती हैं। हालांकि उनकी रचनाएँ नारीवाद का झंडा बुलंद नहीं करती लेकिन नारी के अंतर्मन की पड़ताल गंभीरतापूर्वक करती हुई, उनके संघर्षों से हमें परिचित करवाती हैं और सहजता लेकिन गंभीरता के साथ उसकी निसंगता, अकेलेपन के साथ ही उसके जीवन की चुनौतियों को भी सामने रखती हैं। 'यही सच है' की दीपा दो शहरों और दो प्रेमियों के बीच झूलती हुई अंततः अपने सच को स्वीकार कर लेती है तो 'स्त्री सुबोधिनी' की नैरेटर कामकाजी स्त्रियों की महत्वाकांक्षाओं, आशाओं और टूटन को सामने रखती हुए अपनी बहनों को जीवन के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र सौंपती है जिससे वे गुमराह और प्रताड़ित होने से बच जाएँ। उनकी कहानियों में हास्य और व्यंग का पुट भी सहजता से लक्षित किया जा सकता है। 'अकेली' कहानी के माध्यम से सोमा बुआ के अकेलेपन और समाज से जुड़ने की ललक की कथा कहने वाली मन्नू जी ने 'सयानी बुआ' की कथा में सयानी बुआ के सयाने स्वभाव का वर्णन बहुत रोचक और विनोदपूर्ण ढंग से किया है। 'त्रिशंकु' में तो वह तथाकथित आधुनिकता पर बड़ी सरसता से व्यंग्य करती हैं और प्रकारांतर से अपनी ही पीढ़ी को सवालियों के घेरे में खड़ा करती हैं। 'तीसरा हिस्सा' के तथाकथित प्रगतिशील शेरा बाबू के माध्यम से वह कुंठित मर्दवादी मानसिकता को चित्रित करती हैं। यह कहानी इस मायने में थोड़ी भिन्न है कि पुरुष की स्त्रियों के प्रति सोच को बेबाकी से सामने लाती है। पत्रिका निकाल कर क्रांति का दंभ पालने वाले शेरा बाबू भी सफल स्त्री के बारे में यही सोच रखते हैं- "ऊँचे ओहदों पर पहुँचने के लिए दो ही लियाकत होनी चाहिए औरत

में। - बड़े बाप की बेटी या अफसर संग लेटी।" और ऐसी मानसिकता महज शेरा बाबू की नहीं बहुत से पुरुषों की है जो आधुनिकता की ऊपरी खोल के बावजूद बेहद संकीर्ण और रुढ़िवादी होते हैं। ऐसे पाखंडी लोगों को मन्नू भंडारी साहस के साथ अपनी रचनाओं में बेनकाब करती हैं। उनकी अंतिम दो कहानियाँ 'हंस' के जनवरी (2022) अंक में प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'सीढियों पर बैठी लड़की' नामक कहानी में उन्होंने अपने माँ के जीवन में घटी घटनाओं के हवाले से पूरी स्त्री जाति के प्रति हुए अन्याय और शोषण को क्षोभ के साथ व्यक्त किया है। क्षोभ के साथ दुख भी है कि बेटी जिसे शोषण समझकर आक्रोश से भर उठती है, माँ के लिए वे बातें बिल्कुल सहज हैं। पितृसत्ता स्त्री की मानसिक संरचना की बचनावट इस ढंग से करती है कि वह अपने साथ हुए शोषण की निशानदेही तक नहीं कर पाती। 'गोपाल को किसने मारा' मानवीयता के मर जाने और संवेदनशीलता के पथरा जाने की कथा है। दो बेटों का पिता रामनिझावन बुढ़ापे में अकेला पड़ जाता है क्योंकि बड़ा बेटा गोविंदा बिजली का करंट लगने से मर जाता है और छोटा गोपाल पसरते बाजार की बाजारू आधुनिकता के फेर में पड़कर अपनी आत्मा और विवेक को कुचल देता है। कहानी में उठाया गया सवाल पाठकों की चेतना को झकझोर कर रख देता है। मन्नू भंडारी की सशक्त सृजन शक्ति का ठोस उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, दोनों कहानियाँ। साथ ही यह सिद्ध भी करती हैं कि उनकी रचनात्मक क्षमता चुकी नहीं थी, बीमारियों ने उसे कुछ समय के लिए मंद जरूर कर दिया था।

'एक कहानी यह भी' के माध्यम से जब मन्नू जी अपनी कथा सबको सुनाने का निर्णय लेती हैं तब भी वह बहुत उघाड़ने या औरों को सुनाने-समझाने की कोशिश करने की जगह अपने निजी जीवन और संघर्ष की कुछ झलकियाँ पाठकों के समक्ष रखती हैं। किसी को छोटा करके खुद को बड़ा करने की चाह उनके अंदर कहीं नजर नहीं आती। बेकार के आरोप-प्रत्यारोपों

में उलझने के बजाय वह बड़ी सहजता और साफगोई से अपने जीवन के खटे-मीठे पलों को सबके साथ साझा करती हैं। साहित्य और जीवन के बीच की कड़ी को जोड़ने या छोड़ने को लेकर उनके मन में दुविधा भी उठती है- 'लेखन और साहित्य से हटकर अपने निजी जीवन की त्रासदियों भरे 'पूरक प्रसंग' को लेखकीय जीवन पर केंद्रित अपनी इस कहानी में सम्मिलित किया जाए या नहीं, इस दुविधा ने कई दिनों तक मुझे परेशान रखा। अपने कुछ घनिष्ठ मित्रों से सलाह ली और उनके आग्रह पर अंततः इसे सम्मिलित करने का निर्णय ही लिया।' और उन्हीं के शब्दों में कहें तो 'पूरी आवेगहीन तटस्थता' के साथ उन्होंने अपना निजी जीवन भी एक कहानी की तरह पाठकों के समक्ष रख दिया और निर्णय का अधिकार पाठकों पर ही छोड़ दिया। लेकिन मर्दवादी आलोचक मन्नू जी पर यह आरोप लगाने से नहीं चूके कि उन्होंने एक स्त्री होने के नाते दूसरी स्त्री अर्थात् मीता की व्यथा को नहीं समझा और उसके दुख दर्द को अपनी कथा में पिरोकर उसे असाधारण बनाने से चूक गई। इसका सम्यक उत्तर तो मन्नू जी ने अपने साक्षात्कार में दिया ही है, राजेंद्र जी के साथ हुए इस वार्तालाप का ब्योरा भी दिया है- 'एक बार मैंने राजेंद्र जी से पूछा था कि जैसा आपने किया, वैसा ही अगर मैं करती...तो क्या आप बर्दाश्त करते। वे कुछ देर चुप रहे, फिर कहा, 'नहीं, मैं बर्दाश्त नहीं कर पाता।' मन्नू जी का साहित्य ही नहीं जीवन भी स्त्रियों के प्रति हुए अन्याय का गवाह है। समाज और साहित्य दोनों में स्त्रियों के प्रति दोगले दर्जे का व्यवहार होता है लेकिन आशा यही कि जाती है कि वे दया, सद्भावना और त्याग की प्रतिमूर्ति बनी रहेंगी। मन्नू जी ने भी यह सब कम नहीं झेला।

दूरदर्शन के बहुचर्चित धारावाहिक 'रजनी' समेत कई लोकप्रिय धारावाहिकों और फिल्मों की पटकथा मन्नू जी ने लिखी और दो नाटकों- 'बिना दीवारों के घर' तथा 'उजली नगरी चतुर राजा' (2013) की रचना भी की है। नाटककार के रूप में तो इनकी

बहुत अधिक चर्चा नहीं होती लेकिन पटकथा लेखक के तौर पर ये काफी सफल रहीं। 'कथा-पटकथा' (2003) जिसमें विभिन्न भाषाओं की कुल आठ कहानियाँ और उनपर केंद्रित मन्नू जी द्वारा लिखित पटकथाएँ संकलित हैं, में सशक्त फिल्म निर्देशक और पटकथा लेखक बासु चटर्जी जिन्होंने उनकी कहानी 'यही सच है' पर 'रजनीगंधा' नाम से एक सफल ओर चर्चित फिल्म बनाई थी, ने इनकी लेखन प्रतिभा का आकलन करते हुए लिखा है - 'मन्नू भंडारी एक प्रसिद्ध लेखिका हैं और उन्हें साहित्यिक कृतियों के फिल्मांतरण और बारीकियों की जबरदस्त समझ है। अपने उपन्यास महाभोज का नाट्य रूपांतरण करके भी उन्होंने इसे सिद्ध कर दिया है।'।

दरअसल मन्नू भंडारी होने का मतलब नई कहानी आंदोलन का एक सशक्त और सहज स्तंभ होना तो है ही जिनकी स्वीकृति और छाप जितनी साहित्य की किताबों में है, उतनी ही आम पाठकों के दिलों दिमाग पर है। आधुनिक नारी की समस्याओं को सफलतापूर्वक अपनी रचनाओं के माध्यम से साहित्य के केंद्र में लाने का श्रेय भी उन्हें ही जाता है। नई कहानी आंदोलन की एकमात्र स्त्री हस्ताक्षर होने के साथ ही वह स्त्री मन की प्रतिनिधि रचनाकार भी थीं और बच्चों तथा किशोरों के लिए भी उन्होंने खूब लिखा। उनकी रचनाओं को पढ़ने के लिए किसी शब्दकोश का सहारा नहीं लेना पड़ता और न ही किसी शिल्पगत चमत्कार से गुजरना होता है। जीवन की तरह सहज लेकिन सच्ची रचनाओं की रचयिता मन्नू भंडारी का स्थान और प्रभाव शब्दों की दुनिया में हमेशा कायम रहेगा। उनकी रचनाएँ हमें किसी जादुई लोक की सैर नहीं करातीं बल्कि इसी लोक के हाड़ मांस से गढ़े सच्चे पात्रों की कथा साफगोई से कहती हैं हैं। मन्नू जी अपने एक साक्षात्कार में स्वीकार करती हैं- 'मैंने उन चीजों पर लिखा है जो या तो मेरे साथ हुई हैं या मेरे अनुभव का हिस्सा रही हैं।'। संभवतः यही कारण है कि इनकी रचनाओं में इतनी सहजता और विश्वसनीयता है।

रमा जोशी संस्मृति

डॉ. कृष्ण कुमार

मेरी आँखों के सामने वह दृश्य आज भी है जब रमा जी के पति स्वर्गीय शशी जोशी जी उनको लेकर हमारे घर के मुख्य द्वार के सामने खड़े थे। सुबह का समय था ठंडी-ठंडी खुनुमा बयार मेरे पोर्टिको को और अधिक सजीव कर रही थी। घर की घंटी बजी। मैंने ही दरवाजा खोला। दरवाजा खुलते ही अपनी पंजाबीनुमा हिंदी में शशी जी ने कहा: “डॉ. कुमार मैं शशी जोशी हूँ तथा यह मेरी पत्नी रमा जोशी हैं जो बचपन से ही हिंदी में कुछ-कुछ लिखती और छपती रहती हैं। आपके एवं गीतांजलि बहुभाषी साहित्य समुदाय के बारे में बी.बी.सी. एशियन नेटवर्क तथा कुछ अन्य लोगों के माध्यम से कुछ-कुछ सुन कर मैं रमा को आपके पास लाया हूँ, इसकी साहित्यिक प्यास को मिटाने के लिए।” गीतांजलि बहुभाषी साहित्यक समुदाय का गठन 30 अप्रैल 1995 को बर्मिंघम यू.के. में हुआ था। समुदाय की सोच एवं विचारधारा के कारण यह बड़ी ही गति से लोकप्रिय होने लगा और ऐसा क्यों न होता क्योंकि इसको भारत के तत्कालीन उच्चायुक्त स्वर्गीय डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी एवं उनकी कवि हृदया पत्नी श्रीमती कमला सिंघवी का आशीर्वाद एवं स्नेह इसके जन्म के पहले से ही प्राप्त था।

“धन्यवाद शशी जी। आप जैसे कर्मठ समाज सेवी को बर्मिंघम में हर कोई जानता है। दोनों को नमस्ते करते हुए मैंने उनसे अंदर आने का अनुरोध किया।” इतनी ही देर में मेरी पत्नी चित्रा भी नीचे उतर कर आ गई। जोयी दम्पति ने उठ कर चित्रा को नमस्ते किया। चित्रा के बैठ जाने के बाद शशी जी ने अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहा-

“देख रमा! तू एक लम्बे अर्से से जो चाह रही थी; मैंने खोज निकाला है। डॉ. कुमार एवं इनकी संस्था से तेरी इच्छा पूरी होगी।”

मैंने सहज भाव में कहा :

“शशी जी! रमा जी का गीतांजलि परिवार में स्वागत है।”

सम्भवतः यह मई 1996 का समय था। उस दिन से आज तक रमा जी गीतांजलि समुदाय का एक सशक्त स्तम्भ ही नहीं बनी रहीं वरन् इसके ‘थिंकटैंक’ के रूप जानी जाने लगी थीं। रमा जी का इस प्रकार प्रकृति में विलीन हो जाना दुखदायी तो है ही; समुदाय कभी भी इस रिक्त हुए स्थान को नहीं भर पाएगा। रमा जी का अंत्येष्टि संस्कार परिवार के सदस्यों एवं अनेकानेक मित्रों की उपस्थिति में 8 मार्च 2022 को लॉजहिल शवदाहशाला में सम्पन्न हुआ तथा इनके जीवन का उत्सव स्थानीय आर्यसमाज वैदिक भवन में मनाया गया।

संभ्रांत-विदुषी महिला रचनाकार सुश्री रमा जोशी 1968 से ब्रिटेन निवासी रही हैं। साहित्य साधना रमा जी को लगता है घुट्टी के साथ मिली थी। रमा जी का बचपन अपने ताऊ के पुस्तकालय की अनेकानेक प्रकार की पुस्तकों के बीच बीता। वह बड़ी ही सजग, विचारवान एवं चिंतनशील विवेकी विद्यार्थी थीं जिनकी जिज्ञासा अनंत रही है जिसके माध्यम से वह अपने लिए नई-नई जमीन खोजती एवं खोदती रहती थीं। इससे बचपन में ही एक अच्छे रचनाकार की नींव पड़ गई थी। उन्होंने स्वयं स्वीकारा है कि वह बचपन से ही लिखती रही हैं। यह बात और है कि अपनी रचनाओं को छपने या प्रकाशित होने

को लेकर उनके विचार सामान्य धारणा से बहुत भिन्न हो गए थे। अपनी रचनाओं के प्रकाशन को लेकर उनकी सोच थी कि इस प्रकार अपने आपको निर्वस्त्र करना होता है। मुझे एक लम्बा समय लगा उनको यह समझाने में कि एक रचनाकार अपना अस्तित्व ही नहीं बना पाता जब तक उसकी कलाकृति दूसरों की बाह्य निगाहों के नीचे से नहीं गुजरती। बहुत समय बाद उनका पहला कविता संग्रह-“तुम्हारे लिए-तुम्हारे बिना”, साकेत प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा 2007 में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक का मुख्यपृष्ठ, बसंती रंग पर सुंदर गुलाब की एक कली लम्बे डंठल के साथ, ही सब कह देता है कि ये रचनाएं, किसको समर्पित हैं जो अव्यक्त रूप से रमा जी की मनोदशा को ही दर्शाता है। 78 पृष्ठों वाली इस पुस्तक में विभिन्न प्रकार की 52 कविताएं संग्रहीत थीं जिनका रचनाकाल विवाह से पहले से लेकर 2005 तक का रहा। यह कविता संग्रह एक प्रकार से अपने दिवंगत पति श्री शशी जोशी जी की अर्चना ही है। इन विचार कविताओं को सराहा और सम्मानित भी किया गया था। भारतीय दूतावास लंदन द्वारा 2010 में इसको डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी अनुदान योजना के अन्तर्गत पुरस्कृत किया गया था। इस संदर्भ में अमेरिकन दार्शनिक, अध्यापक एवं समाजसेवी मार्क ट्वेन (30.11.1835-21.04.1910) का कहना था कि ‘समाज को सुचारु रूप से पनपने के लिए अधिक संख्या में प्रोत्साहन देने वालों की आवश्यकता होती है न कि नकारात्मक आलोचकों की।’ रमा जी के साथ भी यही हुआ; इसने इनका मनोबल बढ़ाया जिसके फलस्वरूप इनकी रचना धर्मिता और अधिक बलवती होती गई। परिणामस्वरूप इनके अन्य संग्रह भी तैयार होते गए; यह बात भिन्न है कि इनके प्रकाशन के लिए काल को अच्छी खासी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

लगभग एक दशक बाद रमा जी की दूसरी

काव्य रचना ‘धूप और छाँव’ प्रकाश में आई; जिसमें 2006 से लेकर 2017 तक की अनेकानेक विषयों पर आधारित 57 कविताएं हैं। इन कविताओं के तेवर संग्रह के शीर्षक के अनुरूप ही हैं। जिस प्रकार चेतन जगत को निरंतर अकर्मि चरैवेति-चरैवेति सूर्य की कृपा, धूप, की नितांत आवश्यकता के साथ इसकी साया, छाँव, की भी उतनी ही ज़रूरत होती है; मानव जीवन भी इन्हीं के बीच गुजरता रहता है। न अधिक तपाने वाली धूप उपयोगी होती है न ही इसका न होना। रमाजी की कविताएं इन्ही दोनों के बीच बहने वाले जीवन का दस्तावेज हैं। कविता क्या है और क्या यह एक मनभावन आभूषण की तरह गढ़ी जा सकती है; फैक्ट्री में उत्पादित की जा सकती है? इसका उत्तर आदिकवि वाल्मीकि से लेकर आज तक लोग करते आए हैं। चाहे जो रचनाप्रक्रिया हो कवि का संवेदनशील होना इसकी पहली शर्त होती है। मरते क्राँच पक्षी को देखकर कही या लिखी गई रचना को विश्व की प्रथम कविता के जन्मका आगाज़ माना जाता है। इसीलिए उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश विचारक-रचनाकार भारत हितैषी फ्रेडरिक पिंगाट (27.03.1836-12.02.1896) ने श्रीधर की रचनाओं की विवेचना संवेदनशीलता के आधार पर की न कि केवल भाषा-शैली के आधार पर। कविता में निर्झरिणी की तरह प्रवाह होना चाहिए, लय बद्धता हो या न हो किंतु गेयता तो होनी ही चाहिए। कविता जीवन को व्याख्यायित करने का एक सरस माध्यम है। कवि अपने परिवेश से प्राप्तिको शब्दों एवं भावों का चोला पहना कर समाज को वापस देता है।

रमा जी के साहित्यिक एवं सामाजिक अवदानों का निरीक्षण किए बिना हम इस स्मृतिशेष के साथ न्याय नहीं कर सकते किंतु इसको अधिक विस्तार भी नहीं दे सकते। रमा जी मूलतः एक संवेदनशील कवयित्री हैं। इनका एक कहानी संग्रह ‘सरदारनी

बेगम' भी 2019 में प्रकाशित हुआ था जिसमें विभिन्न विषयों पर आधारित 16 कहानियाँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित हैं। ये रमा जी की कहनकला को जाता है।

अब हम इनके दूसरे काव्य संग्रह 'धूप और छँव' की मात्र एक कविता को समझने का प्रयास करते हैं। रमा जी गीतांजलि बहुभाषी साहित्यिक समुदाय की 1996 से सक्रिय ढंग एवं विवेकी सदस्या रही हैं। इन्होंने समय पर अपने पुष्ट विचारों से समुदाय की आधारशिला रखते हुए इसकी भव्य इमारत की दीवारों पर कई ईंटें भी रखी हैं। उन्होंने केवल ईंटें ही नहीं रखीं वरन् इसके अंदर यथोचित सामग्री भी भरी क्योंकि केवल ईंटों से बने मकान गिर जाते हैं, खंडहर बन जाते हैं, किंतु अंदर के सामान स्थायी रहते हुए कहीं और शोभायमान होते हैं। कुछ ऐसे ही विचार इस संग्रह की कविता 'बचपन का घर' में रखे गए हैं। इस कविता में रमा जी ने बड़ी ही दक्षता-कुशलता के साथ मकान और घर के बीच जो भौतिक एवं वैचारिक अंतर होता है उसको बड़े ही सीधे-सरल शब्दों में व्याख्यायित किया है। मैं जानता हूँ कि यह कविता भी रमा जी की ही नहीं अपितु समुदाय के अन्य सदस्यों की भी प्रिय है और रहेगी। समय के साथ आ रहे घर के अंदर के बदलाव से क्षुब्धता का न आना ही अस्वाभाविक होगा और इसी सत्य को बड़ी बारीकी के साथ यह कविता बुनती हुई आगे बढ़ती है। देखिए और आनन्द उठाइए कविता के भावों को :

घर ईंट और पत्थर
सब वही हैं
पर लोग जो सीमेंट की तरह जोड़ते थे
बिखर गये हैं
अब यह घर, घर नहीं
एक वक्त की मार खाया मकान है

जिसका हर एक न्यान
हर एक घाव
साफ़ नज़र आता है
कितना रोष आता है
इसके टूटने पर
क्यों ठीक नहीं करते
इसके दोष?
फिर सोचती हूँ
यह घर चाहे टूट कर
दोबारा भी बने
यह अब कभी
मेरा घर नहीं बन पायेगा!!!

रमा जी अंतिम समय तक कई संस्थाओं से जुड़ी रहीं और आजीवन महिला समस्याओं के समाधान खोजती रही हैं। इस प्रकार इनका समाज सेवा का काम बहुत ही विशिष्ट रहा है। हो सकता है यह सब पति के काम करने के ढंग से प्रेरित हुआ है, कौन कह सकता है। 1973 में वेस्ट मिडलैंड्स की पहली एशियन महिला 'जस्टिस ऑफ पीस' की नियुक्ति हुई और इस पद पर 36 वर्ष काम किया। 2006 में ब्रिटेन की महारानी की सेवा 'जस्टिस ऑफ पीस' से अवकाश प्राप्त करने के बाद रमा जी एक स्वयंसेवी की तरह स्थानीय 'सेली ओक' अस्पताल में सेवा देती रहीं। रमा जी महिला समस्याओं को लेकर बी.बी.सी. दूरदर्शन पर भी नियमित रूप से जाती रहीं। सक्रिय व्यवसायी महिलाओं को जागरूक करने के उद्देश्य से 'जागो' संस्था का गठन कर कई वर्षों तक इसका नेतृत्व कर दो उपयोगी पुस्तिकाओं की रचना की। महिलाओं को एकजुट करने के उद्देश्य से 1964 में 'इन्डियन लेडीज़ क्लब' की स्थापना हुई थी। रमा जी इस संगठन की लगभग चार दशकों तक विभिन्न पदों पर आसीन रहते हुए इसके सदस्यों को अपने दायित्वों के प्रति जागरूक किया। लगभग सारा

समय 'एडल्ट एजुकेशन' से सम्बद्ध रहने के कारण रमा जी समाज की पारिवारिक शिक्षा समस्याओं से अवगत रहीं और इस विद्या में बर्मिंघम सिटी काउंसिल के सहयोग से एक उपयोगी सेतु का निर्माण किया। विभिन्न समुदायों के बीच समरसता बनाए रखने के रमा जी अनेकानेक वर्षों तक 'रेस रिलेयन बोर्ड' के साथ भी जुड़ी रहीं। रमा जी के सामाजिक अवदानों को सराहते हुए भारत के तत्कालीन उच्चायुक्त ने 2006 में इन्हें 'आउट स्टैंडिंग कम्युनिटी अवार्ड' से सम्मानित किया था।

आइए अब रमा जी की कुछ खास-दिलचस्प बातों को देखते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ; यद्यपि रमा जी व्यक्तिगत रूप मैदान में खेले जाने वाले किसी खेल की खिलाड़ी नहीं रहीं किंतु उनको सभी खेलों को टेलीविजन के पर्दे पर देखना बड़ा ही रुचिकर एवं प्रेरणादायक लगता रहा। खेल चाहे टेनिस, क्रिकेट, फुटबॉल या कोई अन्य ही क्यों न हा वह एकटक बैठ जातीं और रोमांचक स्थिति आने पर अपनी कुर्सी से उछल पड़तीं और अवसर मिलने पर मुझसे अवश्य पूछती रहतीं- "क्या आपने देखा सचिन तेन्दूलकर का वह छका?" इसी प्रकार वह अन्य खेलों के साथ किया करती थीं। अब यह आवाज़ नहीं सुनाई देगी। अपनी

कुछ सहेलियों के साथ किसी नवीनतम रेस्टोरेंट में जाकर भोजन करना भी रमा जी को रुचिकर था। मुझको तो आश्चर्य ही रहता रहा कि नए से नए रेस्ट्रा के बारे में उनको पता कैसे और कहाँ से लगता था? स्थानीय राजनीति के प्रति रमा जी की सजगता एवं जागरूकता ने तो मुझे सदा ही अचम्भित ही रखा।

अंत में मैं यह सूचित करना चाहता हूँ कि इन प्रकाशित पुस्तकों के अलावा अंग्रेजी और हिंदी में कई संग्रहों की सामग्री घर में रखी है जो समय आने पर उनके परिवार के सहयोग से प्रकाश में अवश्य आएंगी। अपनी एवं आप सबकी ओर से भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैं यह आशा करता हूँ कि प्रभु रमा जी की आत्मा को शांति प्रदान करेंगे।

डॉ. कृष्ण कुमार
संस्थापक अध्यक्ष
गीतांजलि बहुभाषी साहित्यिक समुदाय
बर्मिंघम,
21 बिडफ़ोर्ड ड्राइव, सेली ओक,
बर्मिंघम, यू.के.,

शिक्षा में नई प्रौद्योगिकी : नई चुनौतियाँ

- कुमार विश्वबन्धु

बीसवीं सदी तक आधुनिकता की अवधारणा के केन्द्र में कमोबेश उत्पादन के वैज्ञानिक उपकरण अथवा मशीन थे। इक्कीसवीं शताब्दी में आधुनिकता की समझ समूची दुनिया में, सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) और उससे जुड़े संचार उपकरणों से जुड़ गई। सूचना प्रौद्योगिकी मशीनों की एक ऐसी विकसित और बढ़ी हुई नस्ल साबित हुई जिसने एकबारगी समूची दुनिया को अपनी मुट्ठी में कर लिया। पहले वस्तुओं का उत्पादन मशीनों के जरिए होता था, परंतु उन उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार ढूँढने का काम व्यापारी स्वयं अपनी पहुँच और ताकत के बलबूते पर करता था। लेकिन सूचना प्रौद्योगिकी के विकास और नवीन संचार उपकरणों के निर्माण ने इस स्थिति को बिल्कुल ही बदल कर रख दिया। अब बाजार के लिए वस्तुओं का उत्पादन और उन उत्पादों के लिए बाजार मुहैया कराने का काम, दोनों ही मशीनों के ज़रिए होने लगा। पहले बाजारों की खोज की जाती थी, अब बाजारों का निर्माण होने लगा। कम्प्यूटर मोबाइल फोन, लैपटॉप और इंटरनेट आदि दरअसल आज के समय के ऐसे शक्तिशाली औजार हैं, जिनकी सहायता से बाजार अपने जरूरी और अधिकांशतः गैरजरूरी सभी उत्पादों के लिए किसी भी समय और स्थान पर इच्छित बाजार का निर्माण कर लेता है। सूचना प्रौद्योगिकी ने दुनिया भर में, बाजार की स्थानिक आवश्यकताओं, मूल्यों एवं सीमाओं को ध्वस्त करते हुए, उसे एक सर्वथा नया भूमंडलीय वैश्विक चेहरा प्रदान कर दिया। पहले लोग बाजार तक जाते थे, अब बाजार स्वयं लोगों के घरों में घुस आया और दिमाग में दस्तक देने लगा। बाजार अब मनुष्य की जरूरत नहीं रहा, बॉल्क मनुष्य अब स्वयं बाजार की जरूरतों के मुताबिक रूपांतरित होने लगा उसकी भाषा, खान-पान, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, कला, दृष्टि, सोच, विचार, अनुभूति, मूल्य, सौंदर्य प्रतीति, संस्कार आदि सभी कुछ पर बाजार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया।

आवश्यकताओं का चुनाव हम स्वयं कर सकते हैं, परंतु जो अनिवार्य बनकर आता है, उसे ह केवल अपनाना होता है। सूचना प्रौद्योगिकी आज के जीवन की अनिवार्यता है। क्योंकि व केवल एक सुविधा भर नहीं है, बल्कि एक ऐसी व्यवस्था है जिसके लिए हम किसी भी तरह शिक्षा में नई प्रौद्योगिकी नई चुनौतिप कुमार विश्व 2 इंकार नहीं कर सकते। सूचना प्रौद्योगिकी आज हमारे जीवन का हिस्सा भर नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों का मानना हो सकता है, बल्कि वह वर्तमान जीवन व्यवस्था का आधार बन चुका है। उसने जीवन को चमत्कारिक अर्थ में बेहद आसान बना दिया है। इंटरनेट के साथ एक लैपटॉप अब किसी चलते-फिरते ऑफिस अथवा पुस्तकालय में बदल चुका है। मोबाइल फोन किसी गरीब से गरीब आदमी को भी संवाद और सूचना के स्तर पर असीमित सुविधा और स्वतंत्रता प्रदान कर रहा है। शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, राजनीति, व्यापार, खेल-कूद-जीवन के किसी भी क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी के महत्व और प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि मनुष्य के आपसी निजी सम्बन्धों में भी इसने अपने लिए ढेर सारी जगह पैदा कर ली है। आज का जीवन और जीवन के अधिकांश क्रिया व्यापार किस हद तक सूचना प्रौद्योगिकी तथा संचार उकरणों पर निर्भर हैं, इसका पता तब आसानी से

लग जाता है जब हम देखते हैं एक इंटरनेट कनेक्शन में खराबी आ जाने से किसी कार्यालय या बैंक का सारा काम-काज तब तक ठप्प पड़ा रहता है, जब तक कि इंटरनेट कनेक्शन दोबारा शुरू नहीं हो जाता। हम पूरा दिन बिना खाना-पानी के गुजार सकते हैं, लेकिन मोबाइल फोन और इंटरनेट के बिना एक घंटा बिताना भी पहाड़ मालूम होता है। कड़वी ही सही पर यह एक सच्चाई है कि सूचना प्रौद्योगिकी तथा संचार के उपकरणों पर बढ़ती अति निर्भरता के चलते हम अपनी निजी पहचान और स्वतंत्रता दोनों खो रहे हैं।

जिस प्रकार बाढ़ के चढ़ते पानी में नदी, नाला, तालाब, गढ़ा, कुआँ आदि के पानी का अलग से कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, सब मिल मिलकर एक हो जाते हैं। उसी प्रकार सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व के विभिन्न राष्ट्रों तथा मानव समुदायों के जीवन की भिन्न-भिन्न आर्थिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में संध लगाते हुए उनकी संरचना को एक भूमंडलीय चरित्र प्रदान कर दिया है। इसलिए सूचना प्रौद्योगिकी केवल एक प्रौद्योगिकी या कि अत्याधुनिक तकनीक प्रणाली या कि अति उन्नत वैज्ञानिक यंत्र भर नहीं है। इसकी असीम ताकत का कुछ हद तक अनुमान लगाने के लिए इस तथ्य पर गौर करना ही काफी होगा कि इस सूचना प्रौद्योगिकी ने हाल के चंद वर्षों में हमारे वास्तविक संसार (real world) के समाना एक प्रति-संसार (Virtual world) की, तथा जीवन की वास्तविकता (reality) के समानांतर प्रति वास्तविकता (virtual reality) की रचना कर दी है। और मजे की बात यह है कि दोनों की विभाजक रेखा इतनी महीन है कि आदमी समझ नहीं पाता कि वह जिस दुनिया में रहता है वह रीयल है अथवा वर्चुअल। वह प्रायः भ्रमित रहता है और इस दशा में कभी वास्तविक (real) को ही प्रति-निर्मित (virtual) मान बैठता है तो कभी प्रति-निर्मित (virtual) को

वास्तविक (real) समझने की भूल कर बैठता है। अतः सूचना प्रौद्योगिकी आज वर्तमान जीवन की एक अनिवार्य सुविधा होने के साथ एक अनिवार्य चुनौती भी है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

पहली चुनौती तो यही है कि सूचना प्रौद्योगिकी का नियंत्रण हमारे हाथ में होना चाहिए, बजाय इसके कि वह हमें नियंत्रित और संचालित करे मोबाइल फोन जब तक हमारे हाथ में है, तब तक एक प्रोडक्ट है और सूचना तथा संवाद के स्तर पर हमें तकनीकी सुविधा तथा सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान कर रहा है। परंतु यदि हम मोबाइल एडिक्ट हो जाते हैं तो उस एडिक्शन की दशा में वह मात्र एक प्रोडक्ट नहीं रह जाता और न ही इंटरनेट एक प्रौद्योगिकी भर रह जाती है। बल्कि वह हमारी पहचान या आइडेंटिटी का स्थानापन्न बनकर आता है और हमारी सामाजिक स्वतंत्रता को नियंत्रित नियमित करने लगता है।

दूसरी चुनौती है बाजारवाद। सूचना प्रौद्योगिकी का सबसे अधिक उपयोग बाजार कर रहा है। बाजार अपने जरूरी और ज्यादातर गैरजरूरी उत्पादों को बेचने के लिए न केवल अपने बाजार को फैलाने में इस प्रौद्योगिकी को काम में ला रहा है, बल्कि भावनात्मक और वैचारिक स्तर पर उसके लिए अनुकूल परिवेश भी निर्मित कर रहा है। इसका सबसे खतरनाक पहलू यह है कि वह हमें हमारे जीवन के वास्तविक यथार्थ (actual reality) से काटकर निर्मित यथार्थ या कि प्रति-यथार्थ (virtual reality) में जीने के लिए बाध्य कर रहा है। बाजार द्वारा निर्मित इस प्रति यथार्थ अथवा वर्चुअल रीयलिटी की दुनिया में मनुष्य की अपनी सचमुच की सामाजिक सांस्कृतिक जरूरतें बेमानी हो जाती हैं और वह बाजार द्वारा प्रायोजित तथा छद्म प्रभा मंडित सारी गैर जरूरी चीजों को प्राप्त करने में कोल्हू के बैल की तरह जुटा रहता है। यही नहीं इस उद्योग में

वह अपनी समस्त जैविक, आर्थिक तथा नैतिक उर्जा को भी दांव पर लगा देता है।

सूचना प्रौद्योगिकी की तीसरी चुनौती है, अवकाश के चिन्तनशील सृजनात्मक क्षणों का हरण रोजी-रोजगार के व्यस्त समय के बाद अवकाश के खाली समय में भी सूचना-प्रौद्योगिकी किसी न किसी वेश में अपने हाथ-पैर पसारती जा रही है। दिन-रात के काम के बीच वह खाली समय, जिसमें आदमी सोचता विचारता है, सपने देखता है, कल्पना करता है, कुछ पढ़ता-लिखता है और अपनी आत्मा के लिए जरूरी खुराक पैदा करता है, उस खाली समय की जीवन में लगातार कमी पड़ती जा रही है। जबकि ठीक इसके उलट होना यह चाहिए था कि अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी की बदौलत हमारे पास सांस्कृतिक अवकाश के ये क्षण पहले से कहीं अधिक होते।

चौथी चुनौती है, बाजार और सूचना प्रौद्योगिकी के गठबंधन द्वारा पैदा किया जाने वाला सामाजिक अकेलापन। सामाजिक रूप से हम लगातार अधिकाधिक खंडित, विभाजित और अकेले होते जा रहे हैं। हालांकि मोबाइल फोन पर लोग बिना रुके किसी न किसी से घंटों बोलते रहते हैं, किसी न किसी को घंटों सुनते रहते हैं। लेकिन इसके बावजूद मानवीय अनुभूति और संवेदना के धरातल पर फैली संवादहीनता जरा भी कम नहीं होती, बढ़ती ही जाती है। एक तरफ पूरी दुनिया में ग्लोबल वार्मिंग की समस्या है तो दूसरी तरफा विश्व मानवता पर हार्ट फ्रीजिंग का गंभीर संकट। दोनों मानो एक दूसरे से होर करते आगे बढ़ रहे हैं। यह एक अजीब विडम्बना है कि सांस्कृतिक दृष्टि से लोग जितना ही अनुत्पादनशील, विचारहीन, अनुर्वर और असामाजिक होते जाते हैं, तथाकथित सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर उनकी गतिविधियाँ उतनी ही तेज होती जाती है। वास्तविक समाज और समाज के लोगों से अपने घनघोर अलगाव तथा परायापन

के चलते, समाज के असली जीते-जागते लोग उन्हें आर्काति नहीं करते। उन्हें लुभाते हैं फेसबुक के नकली चेहरे और दायित्वहीन बनावटी सम्बन्ध।

जो भी हो, उपरोक्त तमाम संकटों और चुनौतियों के बावजूद, एक साधारण मनुष्य के जाते सामान्य जीवन व्यापारों के संपादन के प्रसंग में, या फिर किसी भी भाषा और साहित्य के शिक्षक के नाते कक्षा में पठन-पाठन के प्रसंग में, हम सूचना प्रौद्योगिकी के व्यवहार से इंकार अथवा परहेज नहीं कर सकते। दरअसल वैसा करने की आवश्यकता है भी नहीं है। हमें उसे अपनाना होगा, और मन से अपनाना होगा। हमें उसे उपयोग में लाना होगा, पर सक्षमता पूर्वक संयम के साथ, नियंत्रण के साथ और सर्वोपरि विवेक के साथ अपने शिक्षकीय भूमिका का निर्वाह करते हुए, कक्षा-शिक्षण की प्रक्रिया में, एक शिक्षक अथवा भाषा शिक्षक को, अपने छात्रों को केन्द्र में रखते हुए, अपने समय, समाज और सम्पूर्ण विश्व की मानवता के प्रति कुछ विशो दायित्व जनित सांस्कृतिक उद्देश्यों को पूरा करना होता है। उसके इस महत् उद्देश्यों को सम्पन्न करने की राह में जो भी तकनीक, सिद्धांत और विधियों वह अपनाता है, वह सब उसके काम में सहायक होकर आना चाहिए। महत्व इस बात का नहीं है कि जो तकनीक, विधियाँ और सिद्धांत वह अपने काम में ला रहा है, वे नयी है अथवा पुरानी महत्व इस बात का है कि कौन सी तकनीक, कौन सी विधि और कौन से सिद्धांत उसके काम को अधिकतम प्रभावी रूपों में आगे बढ़ा पाने में सक्षम हैं। भाषा और साहित्य का एक शिक्षक, थोड़े शब्दों में कहें तो मानव संस्कृति का संरक्षक और मनुयता का डाकिया होता है। अब मनुष्यता का यह डाकिया अपने डाक को, चाहे पुराने जमाने के संदेशवाहकों की तरह स्वयं मौखिक रूप में पहुँचाए, लिखित चिड़ी-पत्री के रूप में घर-घर बॉट आए अथवा नए जमाने की नवीन प्रौद्योगिकी का सहारा

लेकर एस.एम.एस और ई-मेल करे। महत्व उसके डाक अथवा संदेश के ठीक-ठीक रूपों में, ठीक तरह से ठीक ठिकाने तक पहुँचने-पहुँचाने का है। क्योंकि महत्व अंततः किसी कार्य के ठीक तरह से संपन्न होने और उन उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के पूरा होने का होता है, जिसे ध्यान में रखकर उस कार्य की योजना की गई। उपयोग में लाई गई विधियाँ, सिद्धांतों, तकनीकों या कि प्रौद्योगिकी का महत्व यदि कुछ है तो यही कि वे इच्छित उद्देश्य की सफलता में कितने काम के साबित हुए। हमें केवल फैशन के लिए किसी विधि, किसी सिद्धांत। किसी तकनीक अथवा किसी प्रौद्योगिकी का अपने शिक्षण कार्य में प्रयोग नहीं करना है। हमें उन्हें नियंत्रित रूप में अपने शिक्षण-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, आवश्यकतानुसार व्यवहार में लाना है।

बीसवीं शताब्दी में उत्पादन यंत्रों के बढ़ते प्रभाव में मानव संस्कृति पर यांत्रिकीकरण का संकट पैदा हो गया था। मशीन के साथ काम करते-करते मनुष्य स्वयं भी देह और मन के स्तर पर मशीन में तब्दील होने लगा। चाली चौपलिन की फ़िल्म मॉडर्न टाइम्स (1926) हमें इस संकट के प्रति जोरदार ढंग से आगाह करती है। यहाँ यह समझना भी दिलचस्प हो सकता है कि चाली चौपलिन किस प्रकार फ़िल्म-प्रौद्योगिकी का उपयोग मशीनी सभ्यता द्वारा पैदा किए जाने वाले संकट के प्रतिरोध के लिए करते हैं। प्रसिद्ध बंगला फ़िल्म निर्देशक ऋत्विक् घटक की फ़िल्म 'अजात्रिक' (1958) भी इस संदर्भ में एक नया रूपक प्रदान करती है कि यदि यंत्र मनुष्य को अपनी तरह यंत्र में बदल सकता है तो मनुष्य भी किसी यंत्र में मानवीय बोध तथा मानवीय संवेदना का संचार कर सकता है। चुनाव दरअसल हमें करना है कि हम स्वयं यंत्र में बदल जाएँ या फिर इसके विपरीत यंत्र को ही मनुष्यता के साँचे में ढालने का प्रयत्न करें।

किसी भी भाषा और साहित्य के शिक्षक के

रूप में, एक हिन्दी शिक्षक के सामने भी सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण चुनौती यह होती है कि वह किस प्रकार हजारों-हजार वर्षों की मानव सभ्यता की विकास यात्रा में अर्जित सांस्कृतिक ऐश्वर्य को रचनात्मक संरक्षण प्रदान करे। साथ ही किस प्रकार उस ऐश्वर्य भंडार को और भी समृद्धशाली बनाने की दिशा में काम करने के लिए, समाज में एक नयी पीढ़ी का निर्माण कर दे। जिस प्रकार आज बाजार (market) केवल स्थानिक (local) स्वरूप और प्रयोजन से बँधा हुआ नहीं है, बल्कि प्रभाव की दृष्टि से उसका एक ताकतवर भूमंडलीय चरित्र (global character) होता है। ठीक उसी प्रकार किसी भी शिक्षक अथवा भाषा शिक्षक का काम अब मात्र किसी विशेष भाषा-भाषी समाज के स्थानिक प्रयोजनों और उद्देश्यों से संचालित नहीं हो सकता। क्योंकि सूचना प्रौद्योगिकी के अत्याधुनिक दूर संचार के उपकरणों ने केवल विश्व भर के छोटे-छोटे बाजारों की स्थानीय दीवारों को ही नहीं गिराया है। इसके साथ उसने भाषा, संस्कृति, साहित्य, कला और जीवन के निजी वैशिष्ट्यों एवं परम्परागत स्थानिक सुरक्षा घेरों को भी सिरे से ढाह दिया है। इसलिए आज विशुद्ध रूप में लोकल या स्थानिक कुछ भी नहीं है। न आदमी, न आदमी की भाषा, न उसका पहनावा, न खान - पान, न उसकी समस्याएँ, न उसकी चुनौतियों, न उसकी लड़ाइयाँ, न उसका दृष्टिकोण, न उसकी सोच, न उसकी आदतें, न उसका विश्वास और न ही उसका चरित्र। अब वह जितना लोकल है, उतना ही ग्लोबल भी है। विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. अमर्त्य सेन ने 2010 ई में प्रकाशित अपने अभिभाषण IT has become an interactive culture across the world, and the Important question is how we can make people more functionally efficient, not just with their own things, but with everything the global, as well as the local. दरअसल सूचना

प्रौद्योगिकी किसी भी मनुष्य को यह ताकत और स्वतंत्रता प्रदान करती है कि वह अपनी जीवन शैली को रचनात्मक स्तर पर वैश्विक स्वरूप प्रदान करे। यदि बाजार अपने उत्पादों को बेचने और फैलाने के लिए इस प्रौद्योगिकी का सटीक इस्तेमाल कर सकता है, तो किसी भाषा के कवि, लेखक, पाठक, वैज्ञानिक कलाकार, शिक्षक, छात्र तथा सर्वसाधारण जन भी इस अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी का उपयोग स्थानिक तथा वैश्विक दोनों स्तरों पर, मानवीय संस्कृति के संरक्षण, संवर्द्धन और प्रसार के लिए कर सकते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी हमें किसी भी सूचना तक पहुँचने की अबाध स्वतंत्रता मुहैया कराती है, परंतु उस प्राप्त सूचना को बौद्धिक अनुभूति और आत्मिक अनुभव में पर्यवसित करने की क्षमता, हमें एकमात्र मानवीय प्रौद्योगिकी ही प्रदान कर सकती है।

पिछले कुछ वर्षों से, शिक्षा में, खासकर स्कूली शिक्षा के नए पाठ्यक्रमों में, सूचना प्रौद्योगिकी के व्यवहार पर विशेष जोर दिया जाने लगा है। वस्तुतः दूरस्थ शिक्षा और कक्षा-शिक्षण के प्रसंग में उसके प्रयोग की संभावनाएँ भी बहुत हैं। कम्प्यूटर, इंटरनेट, लैपटॉप, ऑडियो-विडियो कॉन्फ्रेंसिंग, डिजिटल बोर्ड, डिजिटल प्रोजेक्टर, डॉक्यूमेंट कैमरा आदि के

समुचित प्रयोग से आज हम किसी भी त्रिाय और पाठ के शिक्षण को अत्यधिक रोचक, प्रामाणिक और प्रभावी बना सकते हैं। परंतु इसके साथ एक जरूरी बात जो किसी भी भाषा और साहित्य के शिक्षक को अथवा यों कहें कि किसी भी विषय के शिक्षक को अपने ध्यान में रखनी होगी कि सूचना प्रौद्योगिकी किसी भी हाल में मानवीय प्रौद्योगिकी का विकल्प नहीं बन सकती। कोई भी प्रौद्योगिकी, फिर वह चाहे कितनी ही वैज्ञानिक, कितनी ही समुन्नत, कितनी ही अत्याधुनिक क्यों न हो, किसी जीते-जागते शिक्षक का स्थान नहीं ले सकती। क्योंकि कोई भी प्रौद्योगिकी अधिकतम रूपों में हमारे सामने कोई एक अथवा बहुत सी सूचना, तथ्य, दृश्य, चित्र, ब्योरा, घटनाएँ आदि ही प्रस्तुत कर सकती है, उनका आकलन-विश्लेषण-विवेचन और व्याख्या नहीं। वह काम एक शिक्षक करता है, क्योंकि एकमात्र वही उस काम को करने की क्षमता रखता है। यही बात तमाम तरह के सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर भी लागू होती है, जो सूचना संवाद के स्तर पर हमें असीमित स्पेस तथा स्वतंत्रता तो प्रदान कर सकती हैं, परंतु किसी भी हाल में वास्तविक समाज तथा सामाजिक के वास्तविक जीवन का विकल्प नहीं बन सकती।

अस्मिता का प्रश्न और स्त्री

- डॉ. रेणु चौधरी

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है, इस समाज में स्त्रियाँ सदियों से पुरुषों के अनुसार अपना जीवन यापन करती रही हैं। सामाजिक सभ्यता के विकास से आज तक किसी ने उसे एक मनुष्य के रूप में नहीं देखा। समकालीन समय में नए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों के कारण स्त्री-जीवन में काफी बदलाव आया। इस दौरान स्त्री-जीवन को लेकर कई पुराने मूल्य टूटे तो कई नए मूल्य बने। इस समय स्त्री अपनी अस्मिता की लड़ाई स्वयं लड़ने लगी है। स्त्री अस्मिता का प्रश्न स्त्री के अधिकार और उसकी अस्मिता से जुड़ा हुआ है। जगदीश्वर चतुर्वेदी का कथन है- “स्त्री की अस्मिता को परिवार ने हजम किया था अतः अस्मिता की पहचान स्थापित करने की लड़ाई परिवार की पुरानी अवधारणा पर चोट करती है। ‘परिवार’ की सामंती धारणा बनाए रख कर स्त्री अस्मिता को अर्जित करना संभव नहीं था, ...यही वजह है कि स्त्रियों को परिवार एवं परिवार के बाहर संघर्ष करना पड़ा। स्त्री अस्मिता के लिए आज भी परिवार के अंदर एवं बाहर स्त्री संघर्ष की प्रासंगिकता है। जब कोई लेखिका घर की चौहद्दी में रहकर राष्ट्र के प्रति सहानुभूति और राष्ट्रीय सरोकारों को लेकर निजी राय व्यक्त कर रही होती है तो वह अपनी अस्मिता के संघर्ष को ही जारी रखे होती है।”

स्त्री अस्मिता की मांग दरअसल पश्चिम से शुरू हुआ। जब औद्योगिक युग में मानव और मानवीयता को महत्व दिया जाने लगा। एक तरह से स्त्री के समान अधिकारों के लिए पश्चिम में पुरुषों ने जोरदार ढंग से मुहिम चलाई। भारत में जब यह आंदोलन शुरू हुआ तो शुरुआती दौर में पुरुष ही उसके मार्गदर्शक थे। भारत में सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ‘नारि नर सम होंहि’ लिखा। उसके बाद हिन्दी में भगवती चरण वर्मा ने ‘चित्रलेखा’ उपन्यास लिखे, जिसने स्त्री की शुचिता-ग्रंथि के मिथक को ध्वस्त किया। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री जीवन के मानवीय, प्राकृतिक, स्वाभाविक भावनाओं के त्याग और दमन को उसका गुण माना जाता था। सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ ये सारी ग्रंथियां टूटनी शुरू हुईं। लेकिन आज भी स्त्री दोयम दर्जे का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है और वह अपनी अस्मिता के लिए लड़ रही है क्योंकि अभी भी पितृसत्ता सामाजिक रूप से अपनी जड़ें जमाए बैठा हुआ है। जब तक पितृसत्ता कमजोर नहीं होगा स्त्री-जीवन का उद्धार नहीं हो सकता। स्त्री की अस्मिता संकट में है। स्त्री अस्मिता के बारे में रमणिका गुप्ता लिखती हैं- “दरअसल यह पुरुष के समान स्त्री का समान अधिकार, स्त्री के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टिकोण तथा स्त्री द्वारा पुरुष के वर्चस्व का प्रतिरोध है। औरत का केवल स्वतंत्र होकर निर्णय ले सकना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। सही मायने में स्त्री अस्मिता का अर्थ होगा स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव, जिसमें स्त्री का खुद का दृष्टिकोण भी शामिल हो। पुरुष के बराबर अधिकार, स्त्री के चयन, वरण और नकारने की स्वतंत्रता स्त्री की अस्मिता की मुख्य शर्तें हैं।” इसमें ‘छिन्नमस्ता’ उपन्यास की प्रिया खरी उतरती है, जब वह अपनी शर्तों पर जीने के लिए सक्षम होती है। लेकिन वह अनेक सामाजिक चुनौतियों का सामना करती है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था आज भी पुरुषों के अधीन है। सिमोन कहती हैं- “स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि पैदा होने के बाद उसे स्त्री बनाई जाती है।” दरअसल पैदा तो वह एक मनुष्य के रूप में होती है जो लिंग के आधार पर भिन्न मानी जाती है। यही लिंग भिन्नता सामाजिक रूप से स्त्री-पुरुष बनाती है। अस्मिता का अर्थ होता है पहचान। स्त्री आज अपने अच्छे-बुरे की पहचान करने लगी है। बदलते दौर में स्त्री अपनी अस्मिता को पहचान रही है। आज स्त्री स्वयं को नए तरीके से तलाश रही है। एक तरह से देखा जाए तो समाज में स्त्री-पुरुष के परंपरागत संबंधों में काफी बदलाव आया। इस बदलाव ने

समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य भी बदले। फलस्वरूप स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुआ और स्त्रियाँ आत्मनिर्भर होने लगीं।

समकालीन स्त्री उपन्यासकारों में कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, गीतांजलिश्री, अलका सरावगी, मधु कांकरिया, शरद सिंह, अनामिका, मैत्रेयी पुष्पा आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासकारों ने नवीन मूल्यों के आधार पर अस्तित्व तथा अस्मिता की तलाश की हैं। इन्होंने उपन्यासों में अपने पात्रों के माध्यम से कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए। इन उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री बाद में है पहले वह इंसान है। इनके उपन्यासों की स्त्रियाँ नियति को स्वाभाविक रूप में स्वीकार नहीं करती बल्कि वे अंत तक जीवन से संघर्ष करती रहती हैं। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में स्त्री पहचान की एक तड़प दिखती है। प्रिया के अंदर अपनी पहचान को लेकर एक बेचैनी दिखती है। डॉ. ज्योति का कथन है- "छिन्नमस्ता" हमारे समाज की उस चीखती सच्चाई की कहानी है जिसे हम सुनकर भी सुनना और समझना नहीं चाहते हैं। लेकिन इंसानी समाज का एक खास हिस्सा अगर अपने जख्मी वजूद के साथ सिसक रहा हो तो, इसका असर पूरे समाज पर पड़ता है। इस उपन्यास में प्रिया नामक एक ऐसी लड़की की कहानी है जो जन्म से उपेक्षित और निरंतर शोषित तथा उत्पीड़ित है। इसके इतर-समाज की जर्जर मान्यताओं और पुरुष की आदिम शारीरिक भूख से भी उत्पीड़ित है। एक संपन्न मारवाड़ी परिवार में पांचवी लड़की के रूप में जन्म लेने वाली प्रिया का आगमन ही पूर्णतः उपेक्षित और अनावश्यक दिखता है। अन्य भाई-बहन की तुलना में साधारण शक्ति-सूरत वाली प्रिया जन्म देने वाली ममतामयी मां के स्नेह और प्यार से भी वंचित रहती है। चिररोगिणी मां के स्नेह और प्यार से वंचित प्रिया अपने भाई-बहन के उपहास की पात्र भी बनती है।" इस प्रकार प्रिया अपने घर में ही अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती है। उसके घर में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। उसे घर में भाटा,

बोकी आदि नामों से पुकारा जाता है। उसे अपने घर में पिता के अलावा किसी और से प्यार नहीं मिला। यहां तक की वह अपने बड़े भाई के द्वारा यौन शोषण का शिकार होती है और बाद में कॉलेज में शिक्षक द्वारा। वह उपेक्षित जीवन जीने के साथ सिर्फ दाई मां की बेटी बन कर रह जाती है। प्रिया कहती है- "मां ने मुझे कभी प्यार नहीं किया, कभी गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला ले। शायद ...हाँ, अपनी रजाई में सुला ले। मगर नहीं एक शाश्वत दूरी बनी रही, हमेशा हम दोनों के बीच में।" प्रिया अपनी मां के घर में ही पहचान के संकट से जूझ रही है।

शादी के बाद भी प्रिया का जीवन सुखमय नहीं रहता। प्रिया को पति के रूप में एक हमसफर की तलाश थी, जिसके साथ वह अपने जीवन की दुखमय पीड़ा को बाँट सके। लेकिन उसका पति नरेन्द्र समाज के उन पुरुषों में से है जो स्त्री के जिस्म को खिलौना के सिवा कुछ नहीं समझते हैं। अतः घर और बाहर पुरुष के इन भाव-भंगिमाओं को देखते हुए प्रिया को अपने औरतपन से ही चिढ़ होने लगती है। अरविन्द जैन का कहना है- "यह उपन्यास प्रिया नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरन्तर शोषित है—समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरुष की आदिम भूख से भी, टूट जाने की हद तक लेकिन वह टूटती नहीं बल्कि शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बनकर एक नई राह पर चल पड़ती है और यहाँ से आरम्भ होती है उसकी बाहरी और आन्तरिक यात्राएँ, संघर्षों का एक अटूट सिलसिले का एक लक्ष्य है—समाज की जिन बर्बर मर्यादाओं और शक्तियों के सामने एक दिन वह मेमने की तरह मिमियाती रही थी, वे देखें कि नारी सदा ऐसी ही निरीह नहीं रहेगी। और सचमुच, प्रिया उभरती है अपनी निरीहता से अपनी खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करके वह एक सबल नारी के रूप में उपस्थित होती है।"

शुरुआती दौर में प्रिया छोटे स्तर पर अपना व्यवसाय शुरू करती है। धीरे-धीरे वह व्यवसाय की दुनिया में

अपनी एक पहचान बना लेती है। वह नरेन्द्र से कहती है- “नरेन्द्र मैं पैसों के लिए काम नहीं कर रही।...अपनी आइडेंटिटी, व्यक्तित्व के विकास के लिए।” प्रिया की पहचान और सफलता से नरेन्द्र खुश नहीं होता बल्कि उसके अहं को ठेस पहुँचता है। आज प्रत्येक स्त्री अपनी पहचान के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लड़ रही है। जब एक स्त्री घर से बाहर अपना कदम रखती है तो उसे कई सामाजिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। प्रिया को भी इन स्थितियों का सामना करना पड़ा। उसे सबसे पहले अपने पति नरेन्द्र का ही सामना करना पड़ा। पितृशाही व्यवस्था कभी भी स्त्री की आजादी को उसके पहचान से जोड़कर नहीं देखती। उसे हमेशा एक उच्छृंखल स्त्री के रूप में देखता है। तभी तो नरेन्द्र प्रिया के पैसों कमाने को हवस कहता है। यह नरेन्द्र की गलती नहीं है बल्कि सामाजिक परिवेश ही ऐसा है, जहाँ बचपन से ही स्त्री-पुरुष का भेद सिखाया जाता है। प्रिया यहाँ सामाजिक व्यवस्था की पोल खोलती दिखती है। अतः आज जो भी स्त्रियाँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही हैं उसे प्रिया जैसी स्त्री पात्र से किसी न किसी रूप में ताकत मिलती है। प्रिया का जीवन उन लाखों टूटी हुई स्त्रियों के लिए प्रेरणा है जो अपनी अस्मिता की लड़ाई बिना टूटे लड़ रही हैं।

‘आवां’ उपन्यास की प्रत्येक स्त्री पात्र अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती है। नमिता अपनी अस्मिता के लिए लड़ती है। नमिता जिसे प्रेम मानती है वह प्रेम नहीं बल्कि धोखा होता है। नमिता बचपन में अपने घर में ही बलात्कार का शिकार होती है और टूट चुकी होती है। पुरुषवादी व्यवस्था जहाँ उसे चुप रहने की सलाह देती है। वहीं उसकी माँ किसी से कुछ भी न कहने की बात करती है ताकि बहन से रिश्ता न खत्म हो जाए। कहीं न कहीं स्त्रियाँ भी पुरुष मानसिकता से ग्रसित होती हैं क्योंकि उनकी सामाजिक संरचना ही ऐसा है। इसी सामाजिक व्यवस्था के कारण वह दूसरी बार भी पिता तुल्य अन्ना साहेब से यौन शोषण का शिकार होती है। ‘आवां’ की नायिका नमिता देवीशंकर पाण्डे की बड़ी बेटी है। देवीशंकर पाण्डे ‘कामगार अघाड़ी’ के सक्रिय

सदस्य हैं। लेकिन श्रमिकों के लिए किए गए एक आंदोलन में पक्षाघात का शिकार हो जाते हैं, जिसके कारण उनका जीवन बिस्तर पर ही बीतता है। घर की स्थिति खराब होने के कारण नमिता और उसकी माँ ‘श्रमजीवा’ नामक संस्था में पापड़ बनाकर और साड़ी में फाल लगा कर अपना जीवन यापन करती हैं। नमिता पर अपने पिता के साथ छोटे-भाई बहन की भी जिम्मेदारी होती है। घर की जिम्मेदारी के चक्कर में नमिता को अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ती है। नमिता जहाँ भी काम करने जाती है वहाँ उसे मादा ही माना जाता है। नमिता को ‘कामगार अघाड़ी’ में उसके पिता के स्थान पर काम दिया जाता है। वहीं पर पिता तुल्य अन्ना साहेब उसका यौन शोषण करता है और नमिता को सीख मिलती है कि ‘पिता तुल्य’ आदमी पिता नहीं होता बल्कि एक पुरुष होता है। नमिता को एक औरत होने की सजा भुगतनी पड़ती है। चित्रा मुद्गल लिखती हैं कि- “स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रूढ़, रूग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा?...।” क्या ऐसे समाज की निर्मिति होगी जहाँ स्त्री को बराबरी का अधिकार मिले? जहाँ अन्ना साहेब जैसे लोग न हों। नमिता की अस्मिता प्रेम के नाम पर भी कुचली जाती है। संजय कनौड़ के झूठे प्रेम में पड़ कर वह छली जाती है। ‘आवां’ में नमिता जैसी उन स्त्रियों की त्रासदी है जो घर की दहलीज पार कर अपनी आर्थिक आजादी और सामाजिक अस्तित्व के लिए विभिन्न क्षेत्रों में संघर्षरत हैं। ‘आवां’ की नमिता, स्मिता, गौतमी, ‘छिन्नमस्ता’ की प्रिया, ‘सेज पर संस्कृत’ की संघमित्रा, ‘पिछले पन्ने की औरतें’ की श्यामा, नचनारी, ‘तिनका तिनके पास’ की अवंतिका देवी, तारा, और शिरीन सभी स्त्री पात्र किसी-न-किसी रूप में पितृसत्तात्मक समाज में उत्पीड़न की शिकार हैं और अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती हैं। समकालीन हिन्दी स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के विविध रूप मिलते हैं। इन उपन्यासों में अस्मिता के संघर्ष से पैदा हुए कई प्रश्न बेबाकी से उठाए गए हैं।

मो. 9599388986

मुक्तचिह्न जनवरी-मार्च 2022 46

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में दलित एवं वंचित जीवन

परमजीत कुमार पंडित

समकालीन कवियों में सर्वाधिक चर्चित और महत्वपूर्ण कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ बहुआयामी है। प्रस्तुत शोधालेख के केंद्र में 'दलित' एवं 'वंचित' वर्ग है। इससे कवि के इनके प्रति गंभीर दृष्टिकोण को व्यापकता से समझने में सहायता मिलेगी। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से जिसका दलन किया गया हो वह दलित है। यह उत्पीड़न या दलन चाहे शास्त्र द्वारा किया गया हो या शस्त्र द्वारा। सुप्रसिद्ध दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि 'भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति दलित है।' 'वंचित' का सहज, सरल अर्थ है किसी व्यक्ति से कोई वस्तु छीन लेना या उसे किसी अधिकार से बेदखल कर देना। व्यापक रूप में कहा जा सकता है कि जिसके साथ छुआछूत, भेदभाव, घृणा, अधिकार से बेदखल आदि का मामला हो वह दलित या वंचित की श्रेणी में आएगा। इतना ही नहीं जो आर्थिक और सामाजिक रूप से कमजोर हैं वे भी इसी श्रेणी के अंतर्गत परिगणित होंगे। इस वर्ग में आदिवासी, दलित, किसान-मजदूर, अति पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित वर्ग, गरीब ब्राह्मण, फूटपाथ पर रहने वाले, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाले अत्यंज आदि सभी धर्म के लोग आते हैं। यह वर्ग वर्षों से मूलभूत सुविधाओं से वंचित रहा है और विकास की मुख्यधारा से अगल-थलग भी। इसीलिए समाज में इन्हें वह प्रतिष्ठा नहीं मिल पाया जिसके वे हकदार थे।

सुप्रसिद्ध कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने दलित और वंचित वर्ग की सामाजिक और आर्थिक जीवन की विविध चित्रों को अपनी कविताओं में उपस्थित किया है। सवर्ण समाज द्वारा वर्षों से अत्यंजों पर अत्याचार, उत्पीड़न किया जा रहा है। वर्ण व्यवस्था के मारे दलित तमाशा बन कर रह गया है। इनकी एक प्रसिद्ध कविता है— 'वर्ण', जिसमें उन्होंने समाज में प्रचलित वर्ण के अर्थ को सार्थक ढंग से स्पष्ट किया है। वर्ण व्यवस्था इन्हें मनुष्य के भी कोटि से बाहर कर रंग-रूप, जाति आदि के रूप में व्याख्यायित करता है—

“एक शब्द है 'वर्ण'

बच्चे दुहराते हैं / वर्ण मायने अक्षर

वर्ण मायने रंग-रूप / वर्ण मायने जाति

बच्चे फिर दुहराते हैं / वर्ण से वर्णमाला

वर्ण से वर्णाश्रम / वर्ण से वर्णसंकर”¹

दलित साहित्यकारों के अनुसार, उन्हें समाज में गाली देकर संबोधित किया जाता था, गाली समझा जाता था। घृणा का वीभत्स रूप उस समय के दलित जीवन में देखा जा सकता था जो कभी-कभी हिंसक रूप धारण कर लेता था। 'असल पहचान' शीर्षक कविता में कवि लिखते हैं—

“गालियाँ गालियाँ नहीं / दस्तावेज हैं, घृणा की

इनमें से झांकता है / हजारों साल की स्त्री और दलित जीवन।”²

एक तरफ सवर्ण अपना काम दलितादि निम्न वर्ग से करवाते हैं और दूसरी ओर उससे हृदय विदारक व्यवहार भी करते हैं; उदाहरणार्थ, मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' को पढ़ा जा सकता है। अंततः दुखी चमार ब्राह्मण की गुलामी करते हुए सद्गति को प्राप्त होता है। उनके जीवन की

आशा-आकांक्षाओं पर उनकी गरीबी अधिक भारी पड़ती है। उनके जीवन में निर्धनता इस कदर पैर पसारे है कि तन ढंकने वाला कुर्ता भी उसके संघर्षों का प्रतीक हो गया है। कवि के शब्दों में—

“कुर्ता, जो प्रतीक हो गया जिन्दगी का
और साथी रहा संघर्ष के क्षणों का
ढोता रहा अपने ऊपर / भारी झोले का
दबाव”³

कवि के अनुसार कुर्ता उसके आबरू को बचाता है, उसके सुख-दुःख और संघर्ष का साथी रहा है। झोले का दबाव ही उसके पूरे परिवार का दबाव है जिसमें सबके जीवन की विभिन्न जरूरतें, आशा-आकांक्षाएं, सपने कैद हैं, जिसे पूरा करने के लिए भोर-उजाले में वह सपनों की झोली लिए उबड़-खाबड़ रास्तों पर दिन-दिनभर दूर-दूर तक भटकते हैं— “ओ मजदूर हैं / जो रोजी-रोटी की खोज में / निकल जाते हैं सुदूर प्रान्तों में”⁴ अपने परिवार का पेट पालने के लिए ये दिनभर कठिन परिश्रम करते हैं किन्तु दो जून की रोटी की व्यवस्था नहीं कर पाते। वंचितों का पूरा परिवार ज्यादातर खाली पेट या एक वक्त का अधपेट भोजन कर सोता है। संसद में विभिन्न प्रान्त के सत्ताधारकों द्वारा मानवअधिकार की बात की जाती है, लेकिन निम्न वर्ग जन के लिए पोषण की बात नहीं होती। जो चाँदी के चम्मच मुँह में लिए पैदा हों, सोने के थल में खाते हों, उन्हें क्या पता भूख क्या होती है? उनकी अतड़ियों की ज्वाला कैसे शांत होगी? सफेदपोश बुद्धिजीवी इस पर बहस नहीं करते। वंचितों के पक्षधर कवि इस बात को मानते हैं कि रोटी भूख की पहली जरूरत है— “भूख पेट में होती है / जो शब्दों से नहीं / रोटी से मिटती है”⁵

धरती माँ अपनी संतानों का पालन-पोषण अपने गर्भ-संपदा से करती है। वह जन को बहुमूल्य तत्त्व व पदार्थ प्रदान करती है। गीतकार के लिए

देश की धरती सोना-चाँदी, हीरा-मोती उगलती है, किन्तु धरती की हरीतिमा को बरकरार रखनेवाला किसान साम्राज्यवादी शक्तियों व नीतियों के कारण आज तक दरिद्रता में जीवनयापन कर रहा है। किसानों की दयनीय स्थिति से धरती उजाड़ होती जा रही है। कवि अपनी आवाज बुलंद कर कहते हैं कि हमारे गीतकारों ने केवल वैभव रूप को दिखाया है, जबकि वस्तु स्थिति कुछ और ही है—

“लेकिन नहीं लिखा / ‘मेरे देश की धरती सूखी जाए

सूखा जाए किसान रे / उसके तन पर वसन नहीं / घर में नहीं पिसान रे’।”⁶

एक तरफ भारतीय किसान को रोटी, कपड़ा, मकान तीनों ठीक से उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर उनकी गर्दन जमींदारों के पैरों तले दबी है, हाथों में जकड़ी है। सरकार भी किसान की ओर प्रायः उदासीन ही है। किसान के लिए ऐसी परिस्थिति का निर्माण पूँजीपतियों द्वारा की जाती है कि वे अपने खेत को उसके हाथों में सौंप दे। किसान बीज, सिंचाई, खाद-पानी, बच्चों की शिक्षा, विवाह आदि जरूरी काम के लिए गाँव के सेठ-साहूकारों से कर्ज लेते हैं, उस कर्ज का ब्याज कभी समाप्त नहीं होता, बीज के साथ उम्मीद भी वे खो बैठते हैं और अंततः उन्हें सेठ-साहूकारों के यहाँ जीवन-पर्यंत गुलामी करनी पड़ती है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। इन शोषकों द्वारा हरे-भरे खेतों पर धनवर्षा अट्टालिकाएं खड़ी की जाती है।

लोकतंत्र में किसान-मजदूर, दलित-वंचित की भाँति लोक-कलाकारों के बच्चे भी शिक्षा से वंचित हैं। सरकार आठवीं तक की शिक्षा मुफ्त देती है किन्तु उसके ऊपर की पढ़ाई की व्यवस्था न सरकार करती है और न ये गरीब साधन के अभाव में कर पाते हैं। इस बदहाल अवस्था की ओर सरकार के किसी मुलाजिम के कान पर जूँ तक नहीं रेंगता है। जानबूझकर अनजान बने रहने वाले

मुलाज़िम की कलाई खोलते हुए कवि कहते हैं—

“वे नहीं पूछते / उनके बच्चों की शिक्षा,
उनके घर और उनकी गरीबी के बारे में

लेकिन वे जानते हैं / लोक कलाकारों की
तस्वीरें और उनकी दरिद्रता।”⁷

दरिद्रता निम्न वर्ग पर इस कदर हावी रहती है कि वे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। वे यह भली-भाँति जानते हैं कि उनकी दरिद्रता कभी दूर नहीं होगी। वे दरिद्रता के निवारण हेतु तरह-तरह के उपाय करते हैं, अंधविश्वास भी पालते हैं, पर उनके हाथ कुछ नहीं आता। कवि यह जानता है कि यह मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख है—

“सबसे बड़ा दुःख है कि लोग जानते हैं

आदमी पीपल का पेड़ नहीं होता

और न ही दरिद्रता कोई सूखी पत्ती

फिर भी इतने भोले बने रहते हैं

कि सूप पीट कर भगाते हैं दलित

और दरिद्रता अट्टहास करती है अपनी जीत पर।”⁸

दरिद्रता सूखी पत्ती नहीं जो पेड़ से अलग होने पर दुबारा न जुड़ पाए, अर्थात् वह जीवन से समाप्त हो जाए। इसी असमाप्ति के कारण दरिद्रता निम्न वर्ग पर विजय पाता है। निर्धनों को हताश-निराश करता है।

निम्न मध्यवर्गीय परिवार जीवन की धुन में छोटे-छोटे सपने देखते हैं जिससे उनके जीवन में थोड़ी खुशहाली आए। उनके सपने अनेक जरूरतों की धुरी होती हैं, वे उसके बाहर की सोचते भी नहीं हैं। वे अपने लघु परिवार की जरूरतों को पूरा करने के लिए छोटी-मोटी नौकरी करना चाहते हैं और अपने परिवार को झोली-भर खुशियाँ देना चाहते हैं। ‘सरकार की नजर’ शीर्षक कविता में कवि जितेंद्र श्रीवास्तव लिखते हैं—

“एक छोटी-सी नौकरी / एक छोटा-सा परिवार

छोटी-छोटी जरूरतें / छोटे-छोटे सपने।”⁹

पूँजीवादी इस युग में नौकरी नहीं गुलामी करनी पड़ती है। अधिकारों का हनन कर नौकरी-पेशा वाले को मजदूर बना दिया जाता है। हाशिये के लोगों को हेय नज़रों से देखा जाता है। उनको मानसिक बोझ तले दबाया जाता है। निजी कार्यालयों में ये समस्याएँ बहुत अधिक हैं। ये समस्याएँ इनके जीवन से सुकून के पल खींच लेती हैं। कार्यालय का कार्यभार और परिवार की चिंता इनके जीवन को अस्त-व्यस्त बना देती है। ये एक समस्या का हल करते हैं तो अनगिनत नई समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। कवि इनकी चिंताओं को ‘खुली हवा में दुःख’ नामक कविता में उद्धृत करते हैं—

“वे अपनी चिंताओं को रोज फेंकते हैं /
चलती हुई ट्रेन के नीचे

पर चिंताएँ रक्तबीज की तरह / फिर पैदा हो जाती हैं अपने ही रक्त से

और हजार चिंताएँ चढ़ आती हैं मुँडेर पर”¹⁰

ये चिंताएँ इनके सामाजिक जीवन सुखी नहीं बनने देती। ये कई बार चिंतामुक्त जीवन के लिए अपने ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, पर प्रार्थनाएँ चढ़ावे के बगैर सुनी नहीं जाती हैं। ये श्रम से न डरते हैं, नकतराते हैं बल्कि अपने जीवन में हाड़-तोड़ परिश्रम करते हैं, किन्तु इसका उचित फल इन्हें प्राप्त नहीं होता है। दलितों व वंचितों की इस स्थिति के जिम्मेदार जहाँ एक ओर संकीर्णविचार समाज है, वहीं दूसरी ओर सत्तासीन नेता भी है। वे सदन में शपथ जनता की सेवा की लेते हैं पर इनकी सेवा में वंचित जनता नदारद रहती है। कवि ने इसका उदाहरण ‘गाँव का दक्खिन हो गया आखिरी आदमी’ कविता में प्रस्तुत किया है कि किस तरह गाँव के मत से एक आदमी दिल्ली पहुँचा दिया जाता है और गाँव का आदमी तो क्या गाँव और गाँव की समस्याओं को भूलकर ए.सी. बंगला में शानो-शौकत से रंगीन जीवन का आनंद लेता है।

वहाँ जाकर खदरधारी का जीवन बुर्जुआ विचारों से बंध जाता है। वे अपने गाँव के दबे-कुचले लोग और उनकी समस्याओं को नहीं याद नहीं करते। उनको दबे-कुचले को और दलन करने में सुखानुभूति होती है।

वंचितों के परिवार में अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए पूरा परिवार श्रम में योगदान देता है, क्या बच्चा, क्या स्त्री, क्या बूढ़ा। बच्चों से काम करवाना कानूनी अपराध है, किन्तु जो दो वक्त की खुराक न जुगाड़ कर पाये, वे क्या करें? सरकार ने 'बाल श्रम कानून' बनाया है किन्तु उसका पूर्ण पालन अब तक संभव नहीं हो पाया है। प्रशासन देखकर भी अनदेखा करती है और अपना हफ्ता (उत्कीच) वसूलती है। 'भारत की जनगणना 2011 के अनुसार, 5-14 वर्ष की आयु वर्ग के 10.1 मिलियन बच्चे कार्यरत हैं, जिनमें 8.1 मिलियन ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य रूप से कृषक और खेतिहर मजदूरों के रूप में कार्यरत हैं।' शेष शहरी क्षेत्रों में जीविकोपार्जन हेतु होटलों, ढाबा, चाय की टपरी आदि में कार्यरत हैं। कोविड-19 से प्रभावित ऐसे बाल श्रमिकों का आकलन करना अभी बाकी है। निर्धन जन दिन-रात जी-तोड़ मेहनत के बाद भी अपना और अपने बच्चों का पेट पूरी तरह से भर नहीं पाते हैं, उनके बच्चे क्या करें? उन्हें मजबूरन श्रम की तपती भट्टी में झोंकना पड़ता है जबकि सत्तासीन के संतान आनंद उपभोग करते हैं। कवि जितेंद्र श्रीवास्तव की निम्न पंक्तियाँ इसे प्रतिध्वनित करती हैं-

“इस दुनिया में
जिंदगी महज सत्तासीनों के पास नहीं
उनके पास भी है / जिनके बच्चे खो-खप जाते हैं
तो शासन-प्रशासन की सेहत पर
कोई फर्क नहीं दिखाता है / फिर भी दुनिया चलती है।”¹¹

दलित एवं वंचित अपने जीवन को चलाने का अनथक प्रयत्न करते हैं, किन्तु फिर भी प्रकृतिक विपदाओं का साया मँडराता रहता है। किसानों का जीवन भी प्रकृतिक विपदा से गंभीर हो जाता है। कभी बाढ़, अकाल या कभी महामारी इनके लिए चुनौती खड़ा करता है। दूसरी ओर इन्हीं विपदाओं से कुछ वर्चस्ववादी शक्तियों को हाथ साफ करने का अवसर मिल जाता है। सरकार इन्हीं अवसरवादियों के हाथों की कठपुतली बनकर देखती रहती है और इससे होनेवाली हानियों का आकलन भी सरकारी कर्मचारी ईमानदारी से नहीं करते हैं। वंचितों के पक्षधर कवि जितेंद्र श्रीवास्तव इस पर रोशनी डालते हुए लिखते हैं-

“हर साल मर जाते हैं हजारों लोग / भूख और कुपोषण से

हर साल कुछ लोगों पर कृपा होती है लक्ष्मी की

बाढ़ हो अकाल हो या हो महामारी
अक्सर सरकार को फुर्सत नहीं होती
लेकिन उसकी मंशा पर शक मत कीजिए
वह रोकना चाहती है किसानों की आत्महत्याएँ
स्त्रियों के प्रति बढ़ती दुर्घटनाएँ

वह दलितों-आदिवासियों को उनका हक दिलाना चाहती है”¹²

वंचितों पर सरकार का यह अत्याचार कब तक जारी रहेगा? जो किसान सबका पेट भरते हैं, उनके पेट में अन्न का दाना नहीं, कर्ज के भारी बोझ तले दबे हैं और विवशता में आत्महत्या कर रहे हैं। “राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय के आँकड़ों के अनुसार भारत भर में 2008 ई. में 16,196 किसानों ने आत्महत्याएँ की थी। 2009 के दौरान 17,368 किसानों द्वारा आत्महत्या की आधिकारिक रपट दर्ज हुई।”¹³ “नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के अनुसार साल 2016 में सुसाइड के 11,379 मामले, साल 2017 में 10,655 मामले,

साल 2018 में 10,349 मामले और साल 2019 में 10,281 मामले सामने आए थे। वहीं साल 2020 में 5579 किसानों और 5098 कृषि लेबरों ने सुसाइड की।¹⁴ इन आंकड़ों में कमी आई है किन्तु संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। समाज में स्त्रियों को जननी का दर्जा दिया जाता है, उनके बिना सृष्टि की कल्पना संभव नहीं है। ये श्रमशील औरतें होती हैं जो समाज के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती हैं, किन्तु सरकार उनको सुरक्षित नहीं रख पाती। उनके प्रति हिंसक घटनाओं में बढ़ोत्तरी हो रही है। दलित-आदिवासी को उनका अधिकार नहीं प्राप्त होता। समाज में सरकारी योजनाओं के नाम पर कीचड़ फैला है। उनके उत्थान की बातें सरकारी फाइलों में बंद हैं। जन-गण के लिए यह एक चिंतनीय विषय है।

सरकारी व्यवस्था यह समझती है कि शहर और गाँव दोनों का खूब विकास हुआ है, सैकड़ों वर्षों से वंचित निर्धन और आरामपरस्त अमीर दोनों बहुत खुशहाल हैं, परंतु सत्य इसके विपरीत है, जिसे कवि अपने सुस्पष्ट शब्दों में उपस्थित करता है—

“उधर गाँव के भाईचारे की बातें / दूर कहीं बहुत दूर

सो रही थीं शहरी बाबुओं की किताबों में

और एक समूचा गाँव काँप रहा था थर-थर-थर”¹⁵

कवि ने जिस गाँव का चित्रा खींचा है उस गाँव में पहले की तरह मेल-मिलाप नहीं है, भाईचारे की भावना समाप्त हो रही है। संवेदनहीनता मरुआ गयी है। दयनीय दैनिक स्थिति के कारण वहाँ भूखमरीकी नौबत है। इंच-इंच जमीन के लिए खून-खराबा है, आने-दाने के लिए लड़ाई है। पूँजीपतियों के गोदामों में अन्न भरे रहते हैं, सरकारी गोदामों में अन्न सड़ जाती है और गाँव में मानवता जार-जार हो रही होती है। इस ओर शहरी

बाबू उदासीन ही बने रहते हैं।

बाजारवादी संस्कृति में छोटे-मोटे रोजगार करने वालों, खोंमचा लगानेवालों की शामत आई है। कवि मनोहर भाई नामक एक पात्र का चित्र अपनी कविता ‘एक घर था एक सिनेमाघर’ शीर्षक में खींचते हैं जिसमें वह नयी बाजारवादी सभ्यता के कारण खासे परेशान और चिंतित हैं, क्योंकि सिनेमाघर के बाहर उनका एकमात्र पान दुकान ही उनके परिवार के भरण-पोषण का जरिया है। सिनेमाघर के स्थान पर जगमगाती इमारत खड़ी की जाती है जिससे पूँजीपति अधिकाधिक मुनाफा कर सके। मनोहर भाई की इस चिंता को कवि सरल शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

“कोई साल भर हुआ बंद हुए सिनेमाघर

मेरी रोजी भी मारी गई इसी के साथ

अब तो घर चलाना भी भारी हुआ जाता है

जगमगाएगी इमारत / मुनाफा उगलेगी मालिकों की जेब में

लेकिन भाई साहब पता नहीं तब

आने वाले साहब लोग पान खाएँगे कि नहीं।”¹⁶

न जाने कितने मनोहर भाई की यह चिंता जायज है क्योंकि जगमगाती इमारतों में रहने वालों के शौक बड़े हैं। कवि का सीधा संकेत एक संस्कृति टूटने की ओर है।

गाँव के कुछ लोग छोटे-बड़े दुकानों में छोटी-मोटी नौकरी करते हैं और पूरी ईमानदारी और परिश्रम के साथ। मालिक को भी अपने नौकरों के प्रति उदारमना होकर उनके सुख-सुविधा का ख्याल रखना चाहिए। कभी-कभी मालिक की लापरवाही के कारण नौकर मारा जाता है। इसका दोषी कौन है? उसके परिवार को कौन संभालेगा? यह चिंता जायज है। कवि इस घटना को निम्न रूप में शब्दांकित करता है—

“दिल्ली के एक गाँव सादुल्लाजाब में / मालिक की लापरवाही से मर गया

दुकान का नौकर / यह एक खबर है / जो शायद किसी अखबार में आए

जिसमें ब्योरा भी हो करंट लगने का।”¹⁷

उस निरीह नौकर का कोई कसूर नहीं था। पूरे भारतवर्ष में इसी प्रकार मालिक की लापरवाही से न जाने कितने कामगार मारे जाते हैं किन्तु उसकी खबर किसी समाचार-पत्रों या समाचार-चौनलों पर नहीं आता। इसका कारण मीडिया पर पूँजीपतियों का एकाधिकार है और सरकारी मीडिया उद्दम की स्थिति इतनी मजबूत नहीं कि वे गाँव, कस्बों या छोटे-मोटे व्यक्तियों के साथ हुए अन्याय पर चर्चा कर सके। सरकारी उद्दम पर भी कमोबेश पूँजीपतियों का ही दखल होता जा रहा है। आमतौर पर देखा जाता है समाचार-मूल्य ही गायब है।

वर्तमान परिदृश्य में हाशिये के लोगों पर राजनीति में उछाल आया है। एक मजबूर जीविकोपार्जन के लिए दिन-भर कठिन परिश्रम करता है। न वह चुनाव लड़ता है, न किसी अपराध में शामिल होता है। कवि इस संदर्भ को बेहतरीन ढंग से शब्दांकित करते हैं—

“आखिर उसने न गोलियाँ चलाई थीं

न पेट्रोल पंप खोला था / न चुनाव लड़े थे न घोटाले किए थे

वह एक अदना-सा मजदूर / खींचता था ठेला

बाँधकर पीठ पर बोरियाँ कोशिश करता था हँसने की।”¹⁸

किसी अन्य धनाढ्य के द्वारा अंजाम दिये गए वारदात का दोष किसी निर्धन, बेसहारा लोगों के ऊपर प्रशासन द्वारा चंद रुपयों के लालच में आरोपित किया जाता है, गिरफ्तार किया जाता है, सजा दी जाती है। अन्याय सहने के आदी बेसहारा चुपचाप ईश्वर को कोसता है, भाग्य को दोष देता है। समाज के निम्न-मध्यवर्ग जिस व्यक्ति को

अपना प्रतिनिधि चुनकर लोकतंत्र में स्थान देते हैं, तंत्र चलाने की शक्ति प्रदान करते हैं, वही नेता अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए पूँजीपतियों से हाथ मिलाकर वंचितों का शोषण करते हैं। कवि जितेंद्र श्रीवास्तव व्यंग्यात्मक लहजे में जनता को धिक्कारते हुए दो ठूक शब्दों में कहते हैं—

“देखो जनता / यही तुम्हारे भाग्य विधाता (जिन्हें चुना तुमने / जाति, क्षेत्र, धर्म और न जाने किन-किन भावों से)

बेच रहे हैं तुमको / नोच-नोच कर खा रहे तुम्हारे सपनों को

जो अब भी ये स्वीकार हैं तुमको / तो जनता धिक्कार है तुमको।”¹⁹

नेतागण आम आदमी या वंचित की हत्या की साजिश करते हैं और जब वह व्यवस्था के कारण भगवान को प्यारा हो जाता है तो सरकारी अधिकारी छानबीन में पारदर्शिता नहीं बरतते। नेता ईश्वर की मर्जी कह कर अपनी व्यवस्था को दोषमुक्त बताने की चेष्टा करता है।

कहा जाता है अन्याय सहनेवाला भी उतना ही दोषी है जितना अन्याय करने वाला। कवि की कविता रामदुलारी जैसी वंचित स्त्रियों के पक्ष में खड़ी होती है। उनकी कविता का एक अन्यतम पात्र है रामदुलारी जो अपने ऊपर होने वाले पियक्कड़ पति के अत्याचार का प्रतिकार करता है। वह निडरता से सभी अत्याचारों का सामना करती है, छोटे-बड़े का भेद नहीं मानती, इसलिए उसके गाँव की स्त्रियाँ उसे ‘मर्दमारन’ की संज्ञा से विभूषित करती हैं। रामदुलारी की चारित्रिक दृढ़ता प्रकट करते हुए कवि कहते हैं—

“जतियों से सुख तलाशते गाँव में / हमेशा जाति को लांघा था रामदुलारी ने

कोई भेद नहीं था उनमें बड़े-छोटे का। सबके लिए चुल्लू भर पानी था उनके पास”²⁰

रामदुलारी के माध्यम से कवि ने यह स्पष्ट

कर दिया है कि स्त्रियाँ अब कमजोर नहीं रह गई हैं। कवि कोतब अधिक दुख होता है जब अन्याय/अत्याचार सहने वाला अपनी आवाज बुलंद नहीं करता है। कवि कुत्ते को प्रतीकात्मक रूप में सामने रखकर एक उदाहरण प्रस्तुत करता है कि कुत्ता चाहे कितना भी कमजोर हो पर एक रोटी के लिए अंत तक संघर्ष करता है—

“रोटी के लिए / अंत तक लड़ता है

एक कमजोर कुत्ता भी / वह बैठकर आँसू नहीं बहाता

विद्रोह करता है / जिंदगी के पक्ष में।”²¹

कवि की ये कामना है जो स्वार्थी लोग उनके सपने को नोंच-नोंचकर खाते हैं, सौदा करते हैं। उसके विरुद्ध वे खड़े हो ताकी उनका एक भी गुनहगार चौन की नींद न सो पाये, परंतु चुप्पी संस्कृति उनपर इतनी हावी है कि वे अपनी सीमा को लांघ नहीं पाते और मुजरिम मुक्त सैर-सपाटा करता रहता है। इस संदर्भ को आदरणीय कवि ‘चुप्पी का समाजशास्त्र’ में व्यक्त करते हैं—

“हमारे समय में निजता इतना बड़ा मूल्य है

कि कोई बाहर ही नहीं निकलता चाहता उसके दायरे से

वरना क्यों होता / कि आजाद घूमते बलात्कारी

दलितों-आदिवासियों के हत्यारे / शासन करते

/ किसानों के अपराधी”²²

कवि जितेंद्र श्रीवास्तव को यह विश्वास है कि जब चुप्पी के समाजशास्त्र का विघटन होगा तब चारों ओर अन्याय और अनाचार के मुक्ति का स्वप्न स्वर गुंजायमान होगा। ‘अपने होने के पक्ष में’ वह तनकर खड़ा होगा, अन्याय का प्रतिकार करेगा। कवि समाज का विघटन नहीं चाहता। समाज में कई धर्म, जाति, वर्ग, भाषा आदि के लोग रहते हैं। सबका एकीकरण ही कवि का लक्ष्य है, किन्तु एकीकरण को भ्रम में रखने वाले कुछेक लोगों के विरुद्ध उनकी लेखनी चलती रही है और रहेगी।

उत्तर-आधुनिक दौर में जिस तरह से सत्ताधारियों का विकेन्द्रीकरण और हाशिये के लोगों का केन्द्रीकरण हो रहा है, अद्भुत है। कवि अपने इस विश्वास को ‘आगे के बारे में’ शीर्षक कविता में स्वर देते हैं—

“हमें विश्वास है / हमसे तुम तक

/ और तुमसे लोगों तक का

यह सिलसिला बादल जाएगा /

एक दिन मजबूत बंधनों में

और हम सभी लोग / सृष्टि की

कमीज / एक दूसरे के अजीज हो जाएंगे

ऐसे में हमीं दुनिया / और समाज

हो जाएंगे।”²³

समकालीन हिंदी कविता के दौर में जितेंद्र श्रीवास्तव बहुत ही ईमानदारी के साथ हाशिये के जीवन और उनकी विभिन्न समस्याओं को उजागर कर रहे हैं। उनका लक्ष्य समाज में जनतांत्रिक-लोकतांत्रिक मूल्यों स्थापना और मानवाधिकारों की रक्षा है। कवि अपनी कविता के माध्यम से वंचितों के पक्ष में खड़े रहे हैं और उन्हें जगाने का सफलतम प्रयास किया है। वंचना के शिकार लोगों को मुख्यधारा में लाने का श्रेय कविको है जो अनादिकाल से प्रताड़ित लोगों को बहस के केंद्र में सतत स्थापित करने का प्रयत्न अपनी कविता के माध्यम से कर रहे हैं। सूचना-क्रांति के युग में समाज में परिवर्तन की बयार चलने लगी है। वंचित जनसमूह अपने हृद की लड़ाई राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर लड़ाई लड़ रहे हैं। वे शासन के समक्ष घुटने नहीं टेकते बल्कि अपनी समस्याओं और माँग रखते हैं। उनके अधिकार, स्वायत्तता, अस्तित्व, आदि की रक्षा एवं विकास के लिए सरकार द्वारा तरह-तरह के कानून बनाए गए हैं; जैसे- बाल श्रम कानून-1986, शिक्षा का अधिकार अधिनियम-2009, कृषि कानून, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, महिला आरक्षण, ओबीसी कमीशन बिल, दलित आरक्षण, आदिवासी आरक्षण आदि।

ये कानून वंचितों द्वारा किये गए विभिन्न आन्दोलनों के कारण संभव हो पाया है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची:-

1. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या-170
2. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2020, पृ.सं.-123
3. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या- 283-284
4. वही, पृष्ठ संख्या- 168
5. वही, पृष्ठ संख्या- 292
6. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कायांतरण, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.-2012, पृ.सं.-46
7. वही, पृष्ठ संख्या-90
8. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या-213
9. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कायांतरण, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.-2012, पृ.सं.-87
10. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या- 203-204
11. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कायांतरण, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.-2012, पृ.सं.-118-119
12. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2020, पृ.सं.-127-128
13. www.indianfarmer.org
14. <https://www.jansatta.com/national/farmers-suicide-cases...>
15. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कायांतरण, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.-2012, पृ.सं.-50
16. वही, पृष्ठ संख्या-22
17. वही, पृष्ठ संख्या-32
18. वही, पृष्ठ संख्या-32
19. वही, पृष्ठ संख्या-57
20. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2020, पृ.सं.-20
21. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या- 296-297
22. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2020, पृ.सं.-23-24
23. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या- 268

संपर्क

स्टेट ऐडेड कॉलेज टीचर , हिंदी विभाग,
सेंट पॉल्स कैथेड्रल मिशन कॉलेज, कोलकाता-9
मो.- 9932232314

राजेश जोशी की कविता में अलंकार-योजना

पीयूष कुमार

हिंदी साहित्य-जगत में अलंकारों का परिगणन शिल्प विधान के अंतर्गत किया जाता है। शिल्प किसी भी रचना का महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग होता है। शिल्प, रचना का आधार ही होता है। रचनाकार अपने भावों, विचारों और अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में शिल्प के माध्यम से ही व्यक्त करता है। कवि राजेश जोशी ने कथ्य के साथ-साथ शिल्प के कारण भी समकालीन हिंदी कविता में अपनी खास जगह बनायी है। उनकी कविताओं के कथ्य और शिल्प में अद्भुत सामंजस्य है। उनके शिल्पगत वैशिष्ट्य का एक महत्वपूर्ण सूत्र उनकी अलंकार-योजना है जो उनकी कविताओं में स्थल-स्थल पर मौजूद है। वस्तुतः अलंकार का शाब्दिक अर्थ होता है - आभूषण या गहना। जिस प्रकार विभिन्न धातुओं के बने आभूषणों से मनुष्यों की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार काव्य की शोभा भी अलंकारों से बढ़ जाती है। इससे काव्य और अधिक सरस व सम्प्रेषणीय हो जाता है। दूसरे शब्दों में- 'जिस प्रकार सुवर्ण आदि के आभूषणों से शरीर की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार जिन उपकरणों से काव्य में सुन्दरता आती है उन्हें (उसी सादृश्य से) अलंकार कहते हैं।' संस्कृत साहित्य से लेकर अंग्रेजी और हिंदी साहित्य में अलंकार समादृत और विवेच्य रहा है। संस्कृत साहित्य में तो अलंकारों के बिना कविता की कल्पना तक भी नहीं की गयी है। अलंकारविहीन कविता को विधवा के समान माना गया है। आचार्य भामह तो स्पष्ट रूप से मानते हैं कि जिस प्रकार किसी रमणी की सुन्दरता अलंकारों के बिना पूर्ण नहीं होती, उसी प्रकार कविता भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाती (न कान्तमपि निर्भूषम् विभाति वनितामुखं)। दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय चिंतन को 'काव्यादर्श' में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अलंकारों को काव्य के शोभाकारी तत्त्व के रूप में विवेचित किया है (काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते)। मम्मट और विश्वनाथ ने भी काव्य में अलंकार की महत्ता को स्वीकार किया है और अलंकारों को उन्होंने क्रमशः सौन्दर्य के उपकारक और शब्दार्थ का शोभाकारी धर्म माना। कालान्तर में रीतिकालीन अलंकारवादी आचार्य केशवदास ने अलंकारविहीन कविता को अनुपयोगी, नीरस और त्याज्य बताया है। काव्य में अलंकारों की उपयोगिता के विषय में उनका मानना रहा है कि जिस प्रकार कोई भी स्त्री कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, कितने ही ऊँचे कुल व जाति वाली क्यों न हो, सुन्दर लक्षणों व चरित्र वाली ही क्यों न हो, वह बिना आभूषणों के नहीं भाती, उसी प्रकार कविता कितनी भी सरस क्यों न हो, बिना अलंकारों के वह शोभायमान नहीं है—

“जदपि सुजाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिनु न विराजई कबिता बनिता मित्त।।” (कविप्रिया)

कविवर राजेश जोशी की कविताओं में कई अलंकारों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। उनकी कविताओं में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही प्रकार के अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। ध्यातव्य है कि उनकी कविताओं में अलंकार सायास नहीं अनायास आये हैं। उन्होंने इनके प्रयोग में किसी प्रकार का कोई दुराग्रह नहीं रखा और न ही वे काव्य में अलंकारों को बहुत आवश्यक ही मानते हैं। कारण यह कि आज इक्कीसवीं सदी में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिस प्रकार के तमाम

संकट सामने आये हैं, उन्हें देखते हुए आलंकारिक काव्यभाषा बहुत कारगर नहीं है। लेकिन फिर भी वे कविताओं में गाहे-ब-गाहे आ गये हैं और भावानुसार अपना अर्थ-विशेष ध्वनित करते हैं तो उनकी चर्चा करना भी आवश्यक हो जाता है। राजेश जोशी की कविताओं में रूपक, अनुप्रास, उपमा, भ्रांतिमान, संदेह, अतिशयोक्ति, मानवीकरण और प्रतीप आदि अलंकार स्थल-स्थल पर आकर कविता के भाव और मंतव्य को स्पष्ट करते चलते हैं। रूपक अलंकार से ओतप्रोत एक कविता है, 'सुब्हे बनारस'। काव्य-पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“जिधर जाओ उधर ही काँवड़ियों के झुंड दिखते थे

मैं अपनी स्मृतियों की काँवड़ में

भर रहा था बनारस की एक सुबह।”

‘सुब्हे बनारस’ कविता बनारस पर केन्द्रित है। कवि सावन के महीने में बनारस जाता है और विश्व प्रसिद्ध बनारस की सुबह का दीदार करता है। उसे काँवड़ियों का एक झुण्ड दिखायी पड़ता है जो विश्वनाथ मंदिर में जल चढ़ाने जाता है। कवि उस दृश्य को देखकर मंत्रमुग्ध हो जाता है और अपनी स्मृति रूपी काँवड़ में बनारसी सुबह रूपी जल को भर लेना चाहता है। इसके अलावा ‘चाँद की वर्तनी’ कविता की निम्नांकित पंक्तियों से भी ध्वनित होता है कि आसमान रूपी कागज पर लिखा हुआ चाँद अपनी वर्तनी बदल लेता है—

“आसमान के सफे पर लिखा चाँद

प्रतिपदा से पूर्णिमा तक

हर दिन अपनी वर्तनी बदल लेता है।”

राजेश जोशी के काव्य-जगत में प्रतीप अलंकार को भी स्थान मिला है। वस्तुतः प्रतीप का अर्थ होता है—उल्टा या विपरीत। इस अलंकार में उपमेय-उपमान के सम्बन्ध को उल्टा कर दिया जाता है। अमूमन प्रसिद्ध उपमान से उपमेय की तुलना या सम्बन्ध दिखाया जाता है लेकिन इसके

विपरीत जब उपमेय के सदृश ही उपमान को बताया जाता है तो उपमेय-उपमान का सम्बन्ध-विपर्यय हो जाता है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे ही प्रतीप अलंकार कहा गया है। राजेश जोशी की एक कविता ‘कर्बला’ में इस अलंकार को परिलक्षित किया जा सकता है। निम्नांकित काव्यपंक्तियों में सुराही के गर्दन की तुलना सुन्दर स्त्रियों के गर्दन से की गयी है, जबकि काव्य-परम्परा में इससे विपरीत होता है—

“पानी पियो तो शुक्रिया अदा करो कुम्हारों का

जिन्होंने पृथ्वी की तरह गोल मटके

और बहुत सुन्दर सुराहियाँ जिनकी गर्दनें सुन्दर स्त्रियों की तरह पतली और लंबी हैं।”

एक कविता ‘कवि चाँद और बिल्लियाँ’ भ्रांतिमान अलंकार रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है। भ्रांतिमान और संदेह अलंकार में अक्सर भ्रांति-सी हो जाया करती है। संदेह अलंकार में उपमेय और उपमान में संदेह बना रहता है लेकिन भ्रांतिमान में अत्यधिक सादृश्य के कारण एक वस्तु को दूसरी ही मानकर उसी के अनुरूप कार्य संपादित होने लगता है। निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार बिल्ली भ्रांति का शिकार हो जाती है। भगोनी में रखा दूध उसे चाँद लगता है और वह सारा-का-सारा दूध पी जाती है—

“मन के एक टुकड़े से चाँद बनाया गया और दूसरे से बिल्लियाँ

...

उनके पाँव की आवाज़ नहीं होती

हरी चालाकी से बनाई गई उनकी आँखें अँधेरे में चमकती है

चाँद के भ्रम में वो भगोनी में रखा दूध पी जाती है।”

‘हँसी’ कविता में विरोधाभास अलंकार द्रष्टव्य है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है विरोध का

आभास या प्रतीति। दो वस्तुओं के बीच जब विरोध न रहे किन्तु विरोध का आभास हो तो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। 'हँसी' कविता में वर्णित है कि रोशनी इतनी ज्यादा है कि कुछ भी ठीक-ठीक देख पाना कठिन है। यह एक प्रकार से रोशनी का अंधकार है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“हालाँकि चीज़ों से इतनी लदी हुई हैं दुकानें
कि एक चीज़ को निकालने जाओ तो दस चीज़ें

अर्राकर गिर पड़ती हैं आपके ऊपर
हालाँकि रोशनी ही रोशनी है चारों तरफ़
हालाँकि इस रोशनी में कुछ भी देख पाना
ज्यादा कठिन है।”

इसके अलावा 'पहाड़' कविता में भी पहाड़ों को ऊँचाई में डूबा हुआ चित्रित किया गया है। जबकि कोई भी चीज़ डूबती गहराई में है। अतएव इस कविता में भी विरोधाभास अलंकार है।

'हरी रोशनाई' कविता मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। इस अलंकार के अंतर्गत निर्जीव वस्तु का सजीव की तरह जीवन्त वर्णन किया जाता है। यह एक पाश्चात्य अलंकार है जो हिंदी में भी प्रतिष्ठित हो गया है। अंग्रेजी साहित्य में इसे 'Personification' (पर्सोनीफिकेशन) कहते हैं। प्रकृति, पशु-पक्षी व निर्जीव पदार्थों में मानवीय गुणों का आरोपण ही इस अलंकार का मुख्य प्रतिपाद्य है। राजेश जोशी की कविता 'हरी रोशनाई' में पेड़ का मानवीकरण किया गया है। इस कविता में पतझड़ के समय का वर्णन किया गया है। आँधी से समय पत्तों के हवा में उड़ने को कवि ने पेड़ों द्वारा लिखी गयी लिखावट कहा है—

“एक दूसरे दोस्त को

दिखाते हुए

मैंने कहा

पेड़ हवाओं पर पत्ते लिख रहा है।”

'मकर संक्रान्ति' कविता में भी मिट्टी का मानवीकरण किया गया है। कवि कहता है कि

मिट्टी की प्रसन्नता में किसी एक की नहीं बल्कि हम सभी की प्रसन्नता निहित है। इन अलंकारों के अलावा राजेश जोशी की कविताओं में अतिशयोक्ति अलंकार के भी दर्शन होते हैं। 'अतिशयोक्ति' में दो शब्द सन्निहित हैं, 'अतिशय' (बढ़ा-चढ़ाकर) और 'उक्ति' (कथन)। अर्थात् जहाँ पर बढ़ा-चढ़ाकर या अकल्पनीय, अविश्वसनीय वर्णन किया जाए, वहाँ पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इसके कई भेदोपभेद हैं। एक कविता 'आठ लफंगों और एक पागल औरत का गीत' में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है जब पागल औरत चाँद को अपनी बगल में छिपा लेती है। किसी के द्वारा चाँद, सूरज या तारों को अपनी बगल में छिपा लेना अकल्पनीय और लगभग असंभव है। एक और कविता 'उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृत्तांत' में भी अतिशयोक्ति अलंकार का मनोहारी वर्णन मिलता है। इस कविता में कवि द्वारा समुद्र को पॉलीथिन में भर लेने का अद्भुत और अतिरंजनापूर्ण वर्णन इन पंक्तियों के माध्यम से हुआ है —

“पॉलीथिन की विशाल थैली में

मैंने समुद्र को भर लिया

आप अन्दाजा भी नहीं कर सकते

कि कैसी तकलीफदेह बात थी यह

समुद्र के लिए।”

राजेश जोशी के अलंकार-विधान की सबसे महत्वपूर्ण और अद्वितीय बात यह है कि अपनी कविताओं में उन्होंने नवीन उपमानों का भरपूर प्रयोग किया है। ये पारम्परिक उपमानों से ज्यादा मौलिक और नवीन उपमाएँ हैं। उन्होंने बहुत-सी नई उपमाएँ गढ़ी भी हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमान उल-जलूल न होकर गहरे अर्थबोध वाले सार्थक उपमान हैं। शायद उनके लिए भी अज्ञेय की तरह पुराने उपमान मैले हो चुके हैं और इन प्रतीकों के देवता कूच कर चुके हैं। उनकी कविताओं में नये रूपकों और नयी उपमाओं की बाढ़-सी आ जाती है। जब वे नये उपमानों का प्रयोग करते हैं तो

धरती की बूढ़ी पसलियाँ दुखने लगती हैं, चाँद झरने के कान में न जाने क्या कहता है कि झरना रात भर हँसता रहता है। आसमान का माथा फटने लगता है। समय की खल्वाट खोपड़ी में एक भयानक विचार पलने लगता है। झूठ एक बाजे की तरह बजने लगता है। पृथ्वी एक मस्तिष्क हो जाती है, जड़ें उसकी शिराएँ और पेड़ उसके विचार हो जाते हैं। नींद चिड़िया की उपमा पा जाती है। बिजली की तार से निकलती चिंगारी को आग का फूल कहा जाता है। पत्नी का प्रेम कभी लम्बी उँगलियों वाली धूप, कभी शहद का छत्ता, कभी संतरे का पेड़ और कभी हरी घास हो जाता है। संस्कृति की गाड़ी छुकछुक चलने लगती है। आकाशगंगा ब्रह्माण्ड की टेबल पर चाँदी की चमकती तलवार की तरह रखी रहती है। सड़कें अजगर की तरह लम्बी हो जाती हैं। इच्छा बिना प्रदूषण और दुर्घटना वाला यातायात का सबसे अच्छा साधन बन जाती है। कल्पना के सारे घोड़े समय चुराकर ले जाता है। निराशा एक बेलगाम घोड़ी बन जाती है। किताब के पढ़े हुए पेज कुत्ते के कान की तरह मोड़ दिये जाते हैं। दूर जाती हुई सीटी शरारती प्रेमिका की तरह हँसती है। समुद्र मरगिल्ले चूहे-सा उछलता है। जब एक छोटा दरवाज़ा हो जाता है। बेटी के विदा होने के बाद का घर बिना चिड़ियों वाली सुबह और बिना तारों वाला आकाश हो जाता है। सपने प्रेमिकाओं की तरह लुका-छिपी का

खेल खेलते हैं। आग पागलपन की तरह फैलती है। इच्छा को सुनहरी चिड़िया के अंडे की तरह पोसा जाता है। फटा हुआ जूता पूर्णिमा के चाँद की तरह दिखने लगता है और कभी तो चाँद ही आसमान पर किसी फल की फाँक की तरह लटका नज़र आता है। 'लहसुन की कली' कविता में पत्नी के नाक की कील और अँगूठा क्रमशः तारे और शंख की उपमा से नवाजे जाते हैं—

“वह अपने कमरे में जाती है और चादर की सिलवटें दूर करती है

भिनसारे के तारे की तरह एकाएक चमकती है
उसकी नाक की लोंग...

उस स्त्री का पति अपने कोलेस्ट्रॉल को सन्तुलित करता

लहसुन की कलियाँ चबा रहा है

और स्त्री के एक छोटे-से शंख जैसे अँगूठे के दबाव को

अपने होठों पर महसूस करता

मन ही मन मुस्कुरा रहा है।”

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि राजेश जोशी की कविताओं में विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का सटीक और सुन्दर प्रयोग मिलता है। उनकी कवियाँ जहाँ एक ओर भावानुकूल भाषा से लैस है, वहीं दूसरी ओर प्रतीकों, बिंबों, सपाटबयानी और अलंकार-योजना में भी अनूठी, अद्वितीय और प्रसंगानुकूल है।

संपर्क

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, रायां सुचानी बगला,

ज़िला सांबा, जम्मू-कश्मीर-181143

मो.नं.- 9628502509

9055019345

“हिन्दी की दलित आत्मकथाओं की संवेदनात्मक पृष्ठभूमि”

(चुनी हुई आत्मकथाओं के विशेष संदर्भ में)

डॉ. महात्मा पाण्डेय

दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने अपनी आत्मकथा के ‘अमी कसा झालो’ लिखकर दलित लेखकों को अपनी आत्मकथाएँ लिखने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी दलित लेखकों में मोहनदास नैमिशराय की ‘अपने-अपने पिंजरे’, ओमप्रकाश वाल्मीकि की ‘जूठन’ श्यौराज सिंह बेचैन की ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’, सूरजपाल चौहान की ‘तिरस्कृत’, माताप्रसाद की ‘झोपड़ी से राजभवन’, कौशल्या बैसंत्री की ‘दोहरा अभिशाप’ नाम से कुछ प्रमुख आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं। इन आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य में हलचल पैदा कर दी है। श्यौराज सिंह बेचैन इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि- “दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्म संघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभर कर आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं। साथ-साथ उन हाथों को पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौन्दर्य से भरे जीवन झांकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहास विहीन समाज में ये आत्मकथाएं सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं, जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है।”¹

आत्मकथा विधा के रूप में दलित साहित्य की शुरुआत हुई, इस अवधि में दलित लेखकों की जो आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं, वे बड़ी ही बेजोड़ रही हैं। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ यदि देखा जाए तो यह त्रासद स्थितियों में गुजरे हुए बचपन की एक बेहतरीन रचना है। श्यौराज सिंह बेचैन का जन्म उत्तर प्रदेश राज्य के एक अछूत परिवार में हुआ था, उनके पिता बाल्यावस्था में ही उनका साथ छोड़ दिए थे और इन्हीं परिस्थितियों के बीच उनकी बालश्रम शोषण और उत्पीड़न की कथा शुरू हो जाती है। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखक अपनी कथा कहते-कहते समाज की अविश्वसनीय विसंगतियों को भी अपनी बेबाक टिप्पणियों द्वारा लेखक ने उजागर कर दिया है। यह आत्मकथा अभावग्रस्त बचपन के संघर्षों और शिक्षित होकर अपनी विषम परिस्थितियों से उबरने की कथा है। उनकी माँ के पास शिक्षा और रोजगार का कोई साधन नहीं था। पूरा घर मातम में डूबा था “इन तीन चार दिनों में हम सब बच्चों का आधार टूट गया था। उन दिनों मेरे घर में कोई साक्षर नहीं था। परिवार के भरण-पोषण के लिए पौने दो बीघा जमीन थी, जिसमें से आधा हिस्सा ताऊ का था।”²

श्यौराज सिंह के बालश्रम का सिलसिला शुरू हो जाता है, क्योंकि बिना काम किए अनाथ जैसा जीवन जी पाना बड़ा कठिन था। कभी गाँव में खेतों की मजदूरी, तो कभी शहर में बूट पॉलिश, कभी नींबू बेचने का काम, कभी अखबार आदि विभिन्न कार्य जीविका हेतु किए। मिस्त्री के साथ मिट्टी और ईंटों को ढोने का काम भी सीख लिया था। वे लिखते भी हैं- “कभी पाँच सौ कभी चार सौ फिर धीरे-धीरे हजार के करीब ईंटें हम पाथने लगे। डेढ़ दो महीने काम किया। लेखपाल से मात्र दो-तीन हजार के पैसे आए थे। उन्होंने घर पहुंची बाकी ईंटों का कोई पैसा हमें नहीं दिया।”³

महात्मा फुले और बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित वर्ग को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया कि नारकीय जीवन से छुटकारा पाने के लिए शिक्षा बहुत अनिवार्य है। दलित वर्ग में उन दिनों पढ़ाई के प्रति रुझान बहुत कम था। शुरू में श्यौराज सिंह के सौतेले पिता उसे स्कूल नहीं भेजना चाहते थे।

लेकिन सामाजिक दबाव के कारण ही अपने बेटे रूप सिंह के साथ श्यौराज सिंह को भी स्कूल भेज दिया गया। श्यौराज बचपन से ही प्रखर बुद्धि के थे। स्वतंत्रता के पश्चात भी गरीबों में सबसे अधिक संख्या दलितों की है। घर की दयनीय स्थिति होने के कारण दलितों के बच्चों की पढ़ाई कभी भी ठीक से नहीं हो पाती थी। श्यौराज मेहनत मजदूरी करके पैसे जोड़ने की कोशिश करते थे, जिससे वे उन पैसे से किताबें खरीद सके। श्यौराज सिंह की कथा को हम यदि ध्यान में रखे तो दलितों के बच्चों को बचपन जैसा कुछ मिलता ही नहीं, वे शोषण की चक्की में पैदा होते ही पीस दिए जाते हैं। माँ उनकी सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण चाहते हुए भी श्यौराज को पढ़ा नहीं सकती। सहानुभूति भरे शब्दों में वह अपने बेटों से कहती है- “जो तू पढ़ना चाहता है तो पहले अपने मर गये बाप को वापस बुला। बाप नाय लावत, तो पहले अपने खान कूँ होती, पहनन हूँ लत्ता और फीस-किताबन कूँ पैसा ला। अब तू स्कूल जाइयो। का तू जानत नहीं है के तू भिखारियां को सगो बेटा नाय है। तू पढ़िबे की जिद्द नाय छोड़ेगी तो वे तेरे संग-संग हम सब को मारि-मारि के घर ते बाहर निकाल देगो।”⁴

श्यौराज सिंह के मास्टर प्रेमलाल सिंह यादव उनके लिए प्रेरणा के स्रोत बने। वे शिक्षा के प्रति सचेत करते हैं कि सभी व्यक्तियों का विकास शिक्षा पर ही निर्भर करता है। प्रेमलाल सिंह अपने क्रांतिकारी विचारों से श्यौराज को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं- “मैं यही चाहता हूँ कि तुम उदाहरण बनो। तुम भविष्य की सोचो, लक्ष्य पर दृष्टि गड़ाओ। इधर-उधर मन भटकाओगे तो कहीं के नहीं रहोगे।”⁵

दलित वर्ग का पूँजीवाद में सबसे अधिक शोषण होता है। क्योंकि वह जागरूक नहीं है। बालक श्यौराज स्वयं अपने जीवन में शिक्षा का महत्व जानकर विपरीत आर्थिक, सामाजिक स्थितियों से त्रस्त होते हुए भी इन पर हावी होकर उच्च शिक्षा ग्रहण करता है। साहस,

कठिन परिश्रम और आत्मविश्वास के साथ दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर लिया है। वह हमेशा अपने ही फैसलों पर खरा उतरा है। दलित समाज की अशिक्षा से निर्मित समस्याओं और पीड़ाओं के कारणों से अब यह स्वानुभूत है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से दलित युवा वर्ग को शिक्षा के प्रति जागरूक करके सम्मानित तथा स्वाभिमानी जीवन जीने के लिए वह स्वयं साक्षात्प्रेरणा का केन्द्र है। भारतीय व्यवस्था ने स्त्री के लिए बचपन में पिता, जवानी में पति एवं बुढ़ापे में पुत्र के संरक्षण में रहने की व्यवस्था की थी, यही सोच अब तक धारण किए हुए है। दलित समाज की स्त्री भी इस व्यवस्था की चोट से बच नहीं पाती है। यदि किसी स्त्री का पति मर जाए तो लोग इच्छा के विरुद्ध भी उसका विवाह करने की सोच लेते हैं। श्यौराज की माँ का भी पिता की मृत्यु के पश्चात नाना ने पुनर्विवाह कर दिया था। यहाँ दलितों की अच्छी परंपरा ही कही जाएगी कि इस समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन है। श्यौराज सिंह ने पुरुष वर्चस्व की मानसिकता को रेखांकित करते हुए समाज में स्त्री की स्थिति पर यथार्थपरक टिप्पणी की है। औरतों को समाज किस दृष्टि से देखता है और किस तरह का व्यंग्य करता है। एक दलित स्त्री होने के कारण उनकी माँ का हर जगह शोषण होता है। स्त्री के मामले में विशेष कर पत्नी के मामले में सारी उदारता व विनम्रता समाप्त हो जाती है और पुरुष केवल रूढ़ भारतीय मर्द बनकर रह जाता है। स्त्रियाँ समाज में पुरुषों से कमजोर रही हैं। वे यदि दूसरा विवाह करती हैं तो उनके बच्चों की स्थिति और कमजोर हो जाती है। लेखक की माँ के पास भी कोई दूसरा विकल्प नहीं था। इस प्रकार लेखक श्यौराज सिंह बेचैन ने अपनी आत्मकथा ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में दलित जीवन की बाल्यकालीन अवस्था के दुःख दर्द, परिवार की दयनीय स्थितियों, सामाजिक बुराई के रूप में चली आ रही अस्पृश्यता, गरीब पारिवारिक पृष्ठभूमि का होना, देश में आजादी के बाद की स्कूल की शिक्षा

में गंभीर अवरोध, बालश्रम और शोषण के विरुद्ध संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद बाल शोषण, बेगार और कुपोषण जैसे कटु अनुभव, पारिवारिक त्रासदी तथा कतिपय छुई और अनछुई यादों को इस आत्मकथा के माध्यम से उजागर किया है।

आत्मकथाकार सूरजपाल चौहान ने अपने 'तिरस्कृत' शीर्षक आत्मकथा को ब्राम्हणवादी समाज से तिरस्कृत होकर ही लिखा है। यह रचनाकार की बचपन से लेकर जवानी के लगभग चालीस बयालीस वर्षों की जीवनगाथा है। इस आत्मकथा में उन्होंने ब्राम्हणवाद के उत्पीड़न के साथ-साथ अपने परिवार-रिश्तेदारी, दलित समाज द्वारा मिली महान मानसिक पीड़ा और तिरस्कार को भी इन्होंने उद्घाटित किया है। दलित आत्मकथाएं सदियों से चले आ रहे दलित समाज के शोषण उत्पीड़न व यातनाओं का दस्तावेज है। सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा में दलित वर्ग के साथ होने वाले जाति-पाँति के भेदभाव और सामाजिक अन्याय के क्रूर-चेहरे को ग्रामीण परिवेश में उजागर किया है। 'तिरस्कृत' आत्मकथा में एक बात पूरी तरह स्पष्ट हुई है कि दलितों की सारी समस्याओं के मूल में भी जाति ही है। सफाई और मैला उठाने का काम दलित ही करते हैं। यदि दलित इसका प्रतिकार करते हैं तो उन्हें जातीय उत्पीड़न और हिंसा का शिकार होना पड़ता है। सूरजपाल चौहान एक अधिकारी हैं और अन्य दलितों की अपेक्षा वे काफी स्वच्छता के साथ रहते हैं। लेकिन गांव के सवर्णों के लिए उनकी पहचान एक भंगी के रूप में आज भी बनी हुई है।

अछूतों के छूने से सवर्णों के बर्तन अपवित्र हो जाते हैं, घर दुकान की दहलीज भ्रष्ट हो जाती है, और व्यक्ति का शरीर अशुद्ध हो जाता है। लेकिन अपनी काम-वासना व हवस मिटाने के लिए अछूत जाति की औरतों के साथ सवर्ण जाति के पुरुष खिलवाड़ करते हैं। सवर्ण जाति की महिलाएं भी दलितों के साथ अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए

तनिक भी हिचक महसूस नहीं करती। सूरजपाल चौहान ने एक प्रसंग में लिखा है “ठकुराइन भग्नों मुझसे और मेरी माँ से बहुत छूत रखती थी, लेकिन चाचा से एकांत में खूब अठखेलियां करती। चाचा भी मौका पाकर उसे छेड़ बैठता था। मैं अपनी बाल बुद्धि पर जोर डालता और सोचता, यह ठकुराइन मुझसे इतना छूत करती है, जरा सा छू जाने पर अपने ऊपर पानी के छींटे डालती है... चाचा में ऐसा क्या है कि टीका की मड़ैया के पीछे अरहर के खेत में उसके साथ उलझी पड़ी रहती है।”⁶

जातिगत संकीर्णता से ग्रसित शिक्षकों के दिल में अपने विद्यार्थियों के प्रति समान रूप से व्यवहार करने की भावना नहीं होती, बल्कि उनके प्रति अमानवीय व्यवहार किया जाता है। कभी उसके बच्चों को 'भूख' हमेशा से ही किसी डायन की तरह पीछा करती रही है। भूख के कारण ही तो सूरजपाल को बचपन में ही अपनी माँ के साथ जूठन उठाने जाना पड़ा था। कॉलेज में छुआछूत जैसी महामारी के प्रकोप से बचने के लिए ही सूरजपाल अपने नाम के साथ चौहान गोत्र का प्रयोग करना आरम्भ करते हैं। इस तरह के वातावरण में तो शिक्षा ग्रहण करना और भी कठिन हो जाता है। लेकिन उनके दलित होने का पता चलते ही सभी दोस्त उनसे दोस्ती तोड़ देते हैं। इस तरह के अमानवीय व्यवहारों के कारण ही दलित परिवार के बच्चे बड़ी जल्दी स्कूल छोड़कर घर बैठ जाते हैं।

दलितों को दलित बनाए रखने में सत्ता की ही भूमिका रही है। देश के दलितों का अपमान होने पर आम सवर्ण तो चुप्पी साध ही लेते हैं। सवर्ण मानसिकता के लिए देश के बुद्धिजीवियों और कानून के रखवालों के कानों पर जूँ नहीं रेंगती जैसे कुछ हुआ ही न हो। ऐसी स्थिति में उन्हें कौन कहेगा कलम के सिपाही।”⁷ दलित समाज परम्परागत रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुरीतियों के बीच जकड़ा हुआ था। सूरजपाल चौहान ने जातिगत, संस्कृति संस्कारों और

सरोकारों का विवेचन तिरस्कृत आत्मकथा में किया है। 'तिरस्कृत' आत्मकथा में दलित समाज जातिभेद और संस्कृति के साथ-साथ कई तरह के पिछड़ेपन और उनके दुष्परिणामों की चर्चा भी निष्पक्ष किन्तु निर्भीक भाव से की है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि 'तिरस्कृत' आत्मकथा में सूरजपाल चौहान द्वारा जीवन की सच्चाइयों को उद्घाटित किया गया है। समाज में दलितों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है। लेखक ने समाज की सड़ी-गली मानसिकता को उजागर करके दलित वर्ग के सामने शिक्षा के महत्व को स्पष्ट किया है।

मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' में दलित जातियों के परिवेश, धार्मिक सामाजिक कार्यकलाप, मेरठ के व्यक्तियों द्वारा शारीरिक, मानसिक व आर्थिक शोषण, बेगारी, अशिक्षा, स्कूलों कालेजों में जातिगत राजनीति प्रेम-प्रसंगों आदि के साथ उस शहर का यथार्थ चित्रण किया है जहाँ से 1857 की पहली क्रांति आरम्भ हुई थी। "मेरठ शहर का परिवेश दलित आन्दोलन से भरपूर था, जिससे प्रेरित होकर लेखक भी दलित आन्दोलन में कूद पड़े थे। आत्मकथा लिखने का मुख्य ध्येय सवर्ण समाज को दलितों के यथार्थ से परिचित करवाना था। आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' हिन्दी दलित आत्मकथाओं की नींव बनी और साथ ही आत्मकथा लेखकों के लिए प्रेरक भी रही।"⁸

'अपने-अपने पिंजरे' समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। डॉ. महीप सिंह ने आत्मकथा की सार्थकता को सिद्ध करते हुए भूमिका में कहा है- "नैमिशराय ने अपने-अपने पिंजरे में जीवन की उन तलख और निर्मम सच्चाईयों को उकेरा है, जिसमें मानवीय पीड़ा अपनी पूरी सघनता से व्यक्त हुई है।"⁹

ब्राह्मणवाद की विचारधारा का इस सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव रहा है इसने समाज को ऊँच-नीच जातियों में बाँट रखा था। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "हर

जाति और हर वर्ग के लोग अपनी-अपनी पहचान में सिमटे हुए थे। शहर धड़कता था, पर अलग सुर में। बस्तियाँ थिरकती नाचती थीं, अलग-अलग बोलियों में। उन सबसे मिलकर बना था यह शहर।"¹⁰

लेखक मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में मेरठ जिले के चमारों की स्थिति और उनके जीवन को अंकित किया है। जाति को व्यक्ति की मुख्य पहचान बनाकर उच्च वर्ग द्वारा निम्नजातियों के लोग घृणा का शिकार होते हैं, जो उनमें हीन भावना पैदा करती है। भारतीय जातिग्रस्त समाज में सबको व्यक्ति की जाति के बारे में जानने की जिज्ञासा रहती है। दलितों के प्रति सवर्णों का व्यवहार ऐसा था कि प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाने में भी उनकी जात आड़े आ जाती थी। एक ही रास्ते पर चलने से उनका धर्म भ्रष्ट हो जाता है, लेखक मोहनदास नैमिशराय ने इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। लेखक ने अपने परिवार और समाज के द्वारा झेले गये क्रूर यथार्थ का चित्रण बगैर किसी संकोच के किया है। शोषण व सामाजिक उत्पीड़न का तीखा और कड़वा एहसास नैमिशराय को तब होता है, जब वे सब इंस्पेक्टर की भर्ती के लिए जाते हैं। अपने-अपने पिंजरे में मोहनदास नैमिशराय ने इस बात को उद्घाटित किया है कि गरीबी और सामाजिक शोषण दोनों मिलकर दलित समाज के लिए ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करती हैं कि वे शिक्षा प्राप्त न कर सकें। वे लिखते हैं कि- "हमारे स्कूल को लोग अक्सर चमारों का स्कूल कहा करते थे। जाति पहले आती थी स्कूल बाद में, यही कारण था कि इस स्कूल में कभी भी गिनती के पूरे अध्यापक न हुए थे। कोई भी मास्टर चमारों की बस्ती में आना नहीं चाहता था।"¹¹

सामंतवादी शोषण ने दलित वर्ग को गरीबी की दलदल में डाल दिया है। गरीब होने के साथ आर्थिक-सामाजिक शोषण उनकी जिन्दगी को और भी बदतर बना देता है। अपने शोषण को बनाए

रखने के लिए सवर्ण लोग दलितों के साथ कई तरह के हथकंडे अपनाते रहे हैं। दलित शोषण को बिना किसी विरोध के ही सहते रहे। अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए वे अधिक से अधिक काम करते रहे, लेकिन उसका फल उन्हें नहीं मिलता था। नैमिशराय ने आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में गरीबी, दरिद्रता और बेरोजगारी से सनी हुई मेरठ के चमारों की स्थिति को उजागर किया है। अर्थ के अभाव के कारण अर्थी पर फेंके जाने वाले पैसों को इकट्ठा करने में भी उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। वे कहते हैं- "अर्थी के ऊपर फेंके गए पैसे उठाने के लिए बुआ और ताई माँ ने कभी मना नहीं किया था।"¹²

पुजारी मंदिर में शाम को आरती के बाद रोज प्रसाद बाँटता था। वह हाथ ऊपर करके प्रसाद डालता था ताकि उसका हाँथ किसी दलित बच्चे से छू न जाए। एक दिन प्रसाद देते हुए पुजारी की अंगुलियाँ नैमिशराय के हाथ से छू गई। पुजारी नाराज होकर चिल्लाया। "तू चमार का है न। सबको भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा, तुम डेरों से, प्रसाद दूर से लिया करो।"¹³ पुजारी के वे शब्द नैमिशराय के दिल में चाकू की तरह उतर गये थे। लेखक ने आवेश में प्रसाद वहीं पूजारी के सामने थूक दिया था। 'अपने-अपने पिंजरे' जैसी आत्मकथा धार्मिक पाखण्डों और ब्राम्हणवादी विचारधारा से पहचान करवाती है, दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वास, कुप्रथाओं और परम्पराओं से।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथा समस्त दलित समाज के दुखों और उनके दर्द की ही व्यथा-कथा है। दलित समाज को मोहनदास नैमिशराय ने उजागर किया है। लेखक का एक ऐसे समाज को स्थापित करने का सपना है, जिसमें सभी वर्गों व व्यक्तियों के विकास के समान अवसर उपलब्ध हो। इसके लिए वह संघर्षरत भी है। इस तरह तीनों हिन्दी के दलित आत्मकथाकारों

ने अपनी-अपनी आत्मकथाओं में दलित संघर्ष की सार्थकता को रेखांकित किया है। अपने जीवन के साथ समग्र दलित समाज की गाथा को प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने अपने जीवन के दुःख-दर्द और अपमान को भी स्वर दिया है। ये आत्मकथाएं दलित समाज में सामाजिक चेतना और अस्मिता बोध को जगाती हैं। इन आत्मकथाओं द्वारा लेखक ने अपनी शर्म, अपना उत्पीड़न तथा अपनी नंगी सच्चाइयों को सामने लाने का सार्थक प्रयास किया है।

सन्दर्भ-

1. दलित साहित्य की परम्परा और विन्यास, एन. सिंह, पृष्ठ-35
2. मेरा बचपन मेरे कंधों पर, श्यौराज सिंह बेचैन पृष्ठ-21
3. वही, पृष्ठ-41
4. वही, पृष्ठ-55
5. वही, पृष्ठ-313
6. तिरस्कृत सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या-30
7. वही, पृष्ठ-16
8. चर्चित हिन्दी की दलित आत्मकथाएं- डॉ. ललित कौशल, पृष्ठ-77
9. अपने-अपने पिंजरे, मोहनदास नैमिशराय, भूमिका से उद्धृत
10. वही, पृष्ठ संख्या-12
11. वही, पृष्ठ-76
12. वही, पृष्ठ-67
13. वही, पृष्ठ-31

डॉ. महात्मा पाण्डेय
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
साठये महाविद्यालय विलेपार्ले (पूर्व)
मुंबई-400057
मो. नं. 8454028185

सप्तवेदी - पूनम सिंह

आश्चस्त करती हूँ तुम्हें
मैं तुम्हारे कुल वंश की
लाज रखूँगी पिता
तुम्हारी सहमति से ही ब्याह करूँगी
लेकिन दान हुई कन्या की तरह
किसी धोती की खूंट से बँधकर
पिया के घर नहीं जाऊँगी

मैं तुम्हारी ड्योड़ी पर
आलता रचे पैरों की छाप छोड़कर
तस्मे बाँधते अपने जूतों की
अँधेरे के बियावान में
तारों की फुलझड़ियाँ छोड़ती
पिया के घर जाऊँगी पिता
सपनों के इन्द्रधनुषी रथ पर
सवार होकर
अपनी चुन्नी लहराती
अपने सम्पूर्ण वजूद के साथ

पर्वत पहाड़ नदी
कछार लाँघती मैं
इस घर से धूपगंधी
पखेरु बन उड़ूँगी पिता
मैं धान के पौधे का विचड़ा नहीं
दूब की हरी गंध हूँ
पत्थर के नीचे भी जम जाऊँगी
अपनी चेतस अन्तस चेतना के साथ

तुम्हारी आँखों के शीशे पर
अक्सों का धुँआ क्यों है पिता?
मैं ओदी लकड़ी नहीं
न ही हवनकुण्ड की समिधा हूँ

मैं हूँ प्रस्तर समय की
कौंध से जन्मी एक नई अग्नि
एक पिता के कुलगोत्र
वंश की नई पहचान

सप्तवेदी पर जो इस रूप में
निभायेगा मुझे
वही पायेगा मुझे

बंजर तोड़ने की जिद्दी जिद

बहुत कठिन है सखी
इस चट्टानी समय के
पथरीले सीने में
प्रेम का एक बिरवा उगाना
आँखों के झरते मेह से
सींच कर उसे
शाश्वत बसंत बनाना

फिर भी
बंजर तोड़ने की
जिद्दी जिद के साथ
वर्षों से कूट रही हूँ
पथरीली जमीन

देखो!
मेरी लहलुहान हथेलियों को
इन उंगलियों की टीस का
क्या पूछना
छलछलाती आँखों के असंख्य
अश्रुबीजों को गुनते गोड़ते
काठ का सुआ हो गई हैं ये
लेकिन थकी नहीं
गर्भनाल के स्पंदन को तलाशती

ये गोड़ती रहेंगी
पत्थर प्रदेश में
संकल्प के अँखुआये बीज

जब तक जलतरंग की
झनझनाहट पैदा न हो जाये
पहाड़ों में
मैं कूटती रहूँगी पत्थरों को
पसीने का नमक चाटकर
जीवित रहूँगी कन्दराओं में

जड़ीभूत दरों के बीच
पानी का शास्त्र ढूढ़ने
जिस दिन आयेंगे वहाँ
भूगर्भ अध्येता
तुम देखना सखी देखना
प्रस्तर पिण्ड पर
अँकुरित होंगी
हरी हरी दूबें

उस क्षण
माँ की निगाहें
पसार देना मेरी आस्था पर
और महसूस करना
पत्थर की कोख में
आग पानी के साथ
घास की उस हरी गंध को
जो उर्वरता की खोज में
मेरे संकल्प की ताकत है

ओ मेरे एकान्त

आज कोई नहीं है घर में
बस 'मैं' और मेरी परछाई
और कोई नहीं

कमरे बरामदे
आँगन और गलियारे में
हम साथ-साथ घूम रहे हैं
कुछ बुन रहे हैं
रेशमी धागों का मुलायम स्पर्श
हमे गुदगुदा रहा है

बड़ी रोमांचक अनुभूति है
जैसे अपने ही भीतर
बहती नदी की धारा में
पाँखें फैला कर नहाती
एक चिड़िया की जिजीविषा में
एकाकार हो गया हो
उसका सम्पूर्ण आकाश

काश! यह क्षण ठहर जाये
एक सार्थक सांस जीने तक
स्मृति फलक पर
टांक दूँ मैं
एक सेतु पथ
जिससे उतरी है
सुदूर लोक की चिड़िया
मन की नदी में
और बता गई है
आकाश के विस्तार का
गूढ़ रहस्य

इस रहस्य को मुझे
आत्मसात कर लेने दो
ओ मेरे
क्षणिक एकान्त!

संपर्क - मोबाइल - 09431281949 /9572222102
Email - poonamkalam@gmail.com

मेरे होने से

- उमेश पंकज

मैं अजन्मा नहीं
जन्मा हूँ, साढ़े चार अरब साल पहले
विखंडित हुआ हूँ
लेकिन नष्ट नहीं
मेरी मृत्यु नहीं हुई है
अनुपस्थित हो सकता हूँ कभी
दग्ध रहता हूँ
विद्विग्न नहीं
थकता नहीं, चलता रहता हूँ
मेरे साथ चलती हैं हवाएं
बहती हैं नदियां, झरने
मेरे अंगूठे पर खड़े हैं पहाड़
मेरे वजूद से है पृथ्वी का वजूद
पशु पक्षी, जीव जंतु
मानवीय सभ्यताएं
मेरे होने से नहीं है अंधेरा
सब कुछ है
खिला खिला, हरा भरा

एक बाइस्कोप है मेरे पास
मैं हसीन सपने बेचता हूँ
हसीन सपने लुभाते हैं
किसे अच्छे नहीं लगते
सपनों के ही पंख लगाए
लोग उड़ते हैं
दिल्ली से अहमदाबाद
अहमदाबाद से बंगलौर
बंगलौर से मुंबई
मुंबई से कोलकाता
और फिर.... फिर ब्रिटेन जर्मनी जापान और अमरीका
हसीन सपने तो हसीन ही होते हैं
रंगीन कागज की नाव होते हैं
उसमे सवार लोग
हवा के हल्के झोंके से डूब जाते हैं
हां, ये वही डूबे लोग ही तो होते हैं
जो मेरी मुट्ठी में होते हैं
जिन्हें मैं लगातार बाजार में उछालता हूँ

जो मुट्ठी में है - 2

बहुरंगी हूँ मैं
गिरगिट की तरह
रंग बदलता रहता हूँ
मकड़ी की तरह जाल बुनता हूँ
मछरे की तरह
समंदर में जाल फेंककर
मछलियां फंसाता हूँ

हसीन सुनहरे सपनों का

आज हमारा प्यार

- केशव शरण

जहाँ था
वहीं थम गया है
न एक इंच आगे बढ़ सकता
न एक इंच पीछे हट सकता
मैं रोता
मेरे आँसू निकलते
लेकिन वह जम गया है
प्रिये!
तुम दुनिया में रहती तो
आज हमारा प्यार
कहाँ से कहाँ होता!!

जनपद के एक कोने में

एक गाँव
मामूली-सा
जनपद के एक कोने में
जनपद के लिए ही गुमनाम
मगर समस्त जनपद से अधिक
हरा-भरा अभिराम
कई किशोर मिले यहाँ कई युवा
बजाते हुए वंशी
और नाचते हुए
राष्ट्रीय पंछी

चकित दृग

अपने शहर के
पार्कों में
मैंने नहीं देखा कि
कभी गौर से
मुझे देखा हो पेड़ों ने
और यहाँ

मैं देख रहा हूँ कि
सारा जंगल
मुझे गौर से देख रहा है
हर पेड़
हर खग
हर मृग
चकित दृग
जैसे मैं
देख रहा हूँ उनको

बीच पुल के

एक सूखी नदी के ऊपर
एक पुल को पार कर रहा हूँ
और मुझे याद आ रही है
एक कवि की कविता
पुल पार करने से
नदी पार नहीं होती
पुल पर कड़ी धूप है
और मुझे याद आ रहा है
एक शायर का शेर
तुमको देखा तो ये खयाल आया
जिंदगी धूप तुम घना साया
बीच पुल के
मैं पा रहा हूँ
पुल कुछ ज्यादा ही लम्बा है
और मैं
जिंदगी की एक तरफ से
जिंदगी की दूसरी तरफ
जा रहा हूँ

एस 2/564 सिकरौल
वाराणसी 221002
9415295137

इंसान नहीं रहा इंसान

- मनोज मिश्र

इंसान
 शुरू शुरू में था केवल इंसान
 धीरे-धीरे होकर सभ्य
 उसने जाति, धर्म और पंथ की बनाई सीढ़ी
 ताकि उस पर चढ़कर उठ सके ऊपर
 ऊपर
 थोड़ा और ऊपर
 किंतु जैसे जैसे
 जाति धर्म की सीढ़ी चढ़, वह उठता गया ऊपर
 ऊपर
 थोड़ा और ऊपर
 वैसे वैसे उसकी इंसानियत
 गिरती गई नीचे
 नीचे
 थोड़ा और नीचे।
 जिस जाति धर्म पंथ को अपना कर
 उसे बनना था बेहतर
 बेहतर
 और बेहतर,
 उसे अपना कर
 वह बन गया बदतर
 बदतर
 और बदतर।
 इंसान
 अब नहीं रहा इंसान
 वह बन गया
 हिंदू-मुसलमान
 यहूदी-ख्रिस्तान
 बौद्ध-जैन
 सिख और पारसी।
 वह सिया है, सुन्नी है

वह सवर्ण है, या है दलित
 है वामपंथी, नहीं तो दक्षिणपंथी
 इंसान धीरे-धीरे सभ्य तो हुआ
 लेकिन वह न रहा इंसान
 न रही इंसानियत।

पशुत्व बनाम मनुष्यत्व

एक कुत्ते की हरकतों को देख
 एक दूसरे, समझदार कुत्ते से, रहा नहीं गया
 हुआ वह बेकाबू
 उसने पहले कुत्ते को देख गुराया
 और गुराते हुए बोला
 शअबे आदमी कहीं का
 तुझे नहीं आती शर्म
 ऐसी हरकत करते हुए
 तुम भूल गए स्वयं को
 तुम हो कर्मठ, हो रक्षक, पहरेदार
 तुम हो खोजी हो स्फूर्तिमान
 तुम हो वफादारी की मिसाल
 क्यों बने हो
 मनुष्य की तरह बुजदिल, चाटुकार
 लालची, दगाबाज
 मत बनो मनुष्य की तरह, रीढ़विहीन, परघाती
 अरे सुन!
 अब तू मान मेरी बात मनुष्यत्व को छोड़
 गह अपना पशुत्व
 यह याद रख
 पशुत्व की बराबरी नहीं कर सकता
 आज का मनुष्यत्व।

मो. 9748947882

बावरा मन रेणुका श्रीवास्तव

सोचा था अंबर बरसेगा
बादल के टुकड़े फैलेंगे
धरती के फैले आँचल पर
अमृत घाट से बूंद गिरेगी
पर सब क्यों है सूख गया सा-----
गहन रात्रि से घिरे व्योम पर
तारों का जब जाल बिछेगा
चाँद दूधिया के झरने से
झर झर झरती धार गिरेगी
सारा जग तब नाच उठेगा
पर सब क्यों है ठहर गया सा-----
सूने से सफ़ेद हाथों पर
मेहँदी की लाली फैलेगी
पाँव अबीरी ठहर-ठहर कर
परिवर्तन का नृत्य करेंगे
सोच-सोच यह हुआ बावरा
मन जब परतें खोल रहा था
न जाने क्यों ठहर गया सब-----
रेणुका अस्थाना भिवाड़ी

समय

मैं समय को बाँटकर
खुद बाँट लेती हूँ स्वयं को
हर तने से शाख तक
मैं ढाँक लेती हूँ समय को ।।
हूँ सुनाती, स्वप्न और सच्चाई की
शब्दावली
बांध लेती हूँ समय के
हर लहर की पालकी को ।।
धुँध में और रोशनी में
ढूँढती हूँ कुछ निशान ।
एक सघन ममता की छाया
दूसरी रिश्तों की छाँव ।।
जानती हूँ कूटनीतिक

चाल में सब बह रहा ।
फिर महाभारत की ध्वनि का
आगमन है हो रहा ।।
झूठ और कुंठा में लिपटा
आदमी है जल रहा ।
हरिभूमि से मरुभूमि तक
सब राख में है बदल रहा ।।
है समय आहत, ठहर कर
देखता यह खण्ड है ।
सोचता, हर काल के हैं
सुख अलग और दण्ड हैं ।।

दोस्ती

एक शाम दिल उदास था
सोच रहा था जीवन के
उन सारे पलों को
जिसमें दुविधा थी
उलझन थी
और हर पल टूटती
आशाओं की डोरी ।
पूरा आकाश विराना था
आँखों की कोर खारी थी
दिवारें गुमसुम सी
और किसी को ढूँढती
आँखें पनियारी ।
एक आहट हुई
किसी ने छुआ
ढलक गयी मैं
बहती बूँद सी
और -बांध लिया उसने
अमृत की बूँद सा
वह दोस्त थी -
हाँ! वह दोस्त थी जिसने
कहा कुछ नहीं पर
सम्भाल लिया मेरे जीवन
के मरुभूमि को
बना दिया नील घाटी सा महकता
अपने स्पर्श से

विद्रोह अंततः एक करुणा है जावेद खान

एक शाम जब परिंदों ने धक्का देकर सूरज को
समुंदर में गिराया था
मुस्कुराती शाम के गालों का रंग जैसे उड़ गया
एक दूसरे को अलविदा कहती चार आंखों में उभर
आया पानी
विद्रोही आंसू बनकर निकल पड़ा भीतर से
और रेत में गिरकर बिला गया धरती की कोख में
करुणा बनकर
जरूरी नहीं कि विद्रोह सिर्फ तोड़ फोड़ का बायस
बने
घर छोड़कर करुणा का अवतार भी बन जाता है
बस उसके साथ सिद्धार्थ का चिंतन होना चाहिए

उम्मीद

क्षुद्रताओं के बोझ तले दबी आत्मा को
नाउम्मीदी के भंवर में डूब मरने से पहले
गिरी हुई लहर को फिर से उठते हुए देख लेना
चाहिए
जीवन की धारा में खुद ब खुद बहने लगोगे
जीवन को पत्थरों पर मत उकेरना डूब जायेगा
तुम जिसे अमरता का दस्तावेज समझते हो
वह शिलालेख दरअसल इतिहास के बेजान जिस्म
को
ममी की शक्ल में सजाकर रखने की कीमियागीरी
है
जिसके मकबरोँ पर मंडराते रहते हैं
नाउम्मीदी के काले साए
उम्मीद सुहागन के हाथों में थमी
पूजा की सजी हुई थाली है
जो करवाचौथ के संकल्प में सांस लेती है
और दीपवर्तिका की नन्ही सी लौ में आंखे खोलकर
शिशु की निश्छल मुस्कान में समा जाती है

दास का सर

मैं पैदा हुआ था साफ शफ़ाक़ मन लेकर
आबेजमजम सी पाक मुस्कुराहट लेकर
लेकिन बड़े होते होते
हंसी की लगाम पहुंच गई डर की गिरफ्त में
मेरे अंदर संवेदनाओं की नहर सूखती गई
भीतर के ताप ने तमाम बिरवों को सुखाकर
एक रेगिस्तान में बदल दिया
मेरी समूची आत्मा को निगल लिया
मेरे ही अहम ने
मौत के वहम ने
तमाम हरियाली को खोया है
मैंने जीवन को जिया नहीं ढोया है
इसलिए तमाम आमो खास बगौर सुने
मेरी इस हरकत पर मुझे पागल समझें
या अपना सिर धुने
लेकिन जनाब सर धुनने से शांत नहीं होता बवंडर
मैंने भी बहुत धुना सर
इच्छाएं उतना ही तांडव करती थी अंदर
इसलिए मैंने होशोहवास में फ़ैसला लिया है
कि मैं शरीर से अलग कर दूं उस सर को
जिसने मेरी आत्मा को गुलाम बनाया है
मैं कबीर जैसा क्रांतिवीर नहीं
जो सरे बाज़ार एक हाथ में लुकाटी
और दूसरे में कटा सर लेकर समाज को चुनौती दूं
मगर इतना जानता हूं
कि नई संभावनाएं तभी जनम लेंगी
जब रूढ़ियों में जकड़ा सर उनसे अलग हो जाएगा
मुझे यकीन है कि नए अंकुर
मेरे जीवाश्म की खाद में ही पनपेंगे
आजाद विचारों की खातिर
शीश और शरीर के अनुबंध को तोड़ता हूं
आज से इस सर के साथ साथ
मैं अपनी दासता को भी छोड़ता हूं

संपर्क : मोबाइल नंबर - 9136397400

ईमेल -javedalamkhan1980@gmail.com

मुक्तचिह्न जनवरी-मार्च 2022

70

पुरस्कार

रूपसिंह चंदेल

मई माह के दूसरे सप्ताह का एक दिन। हवा सुबह से ही गर्म थी। चार दिन पहले ही वह शहर के एक राष्ट्रीय अखबार के एक्ज्यूटिव एडिटर बनकर आए थे। चार दिन ऑफिस को समझने, अधीनस्थों से परिचित होने और अपने को व्यवस्थित होने में उनका समय व्यतीत हुआ। पांचवें दिन वह दस बजे कार्यालय पहुंच गए। जानते थे कि उस समय कार्यालय में चपरासी, रिसेप्शन और डेस्क पर कुछ ही लोग होंगे। वह पहले सम्पादक थे जो उतनी सुबह कार्यालय पहुंचे थे। उनके पहुंचते ही उपस्थित लोग चौकन्ने हो उठे। काना-फूसी हुई और सभी सिर झुकाकर काम करने का आभास देने लगे। कुछ कर भी रहे थे। ये वे लोग थे जिन्हें सुबह छः बजे पहुंचना होता। शेष बारह बजे तक पहुंचते और रात नौ-दस बजे तक पान चभुलाते, सिगरेट और चाय पीते काम करते। डेस्क की ओर नज़र डालते मनीष पंडित अपने चेंबर में दाखिल हुए। गैलरी में उन्हें आता देखकर उनके चपरासी ने पहले ही चेंबर का दरवाजा खोल दिया था।

मेज पर उस दिन के हिन्दी-अंग्रेजी समाचार पत्र रखे हुए थे। चेंबर में उनके प्रवेश करते ही चपरासी ने लपककर पंखा खोल दिया। ए.सी. पहले से ही चल रहा था। दो मिनट तक मनीष पंडित कुर्सी के पास खड़े रहे, फिर सिगरेट सुलगाई और खिड़की के पास जा खड़े हुए। उनका चेंबर दूसरी मंजिल पर था। उन्होंने खिड़की का पर्दा हटाया और बाहर सड़कर पर दौड़ते वाहनों और पैदल चलने वालों को देखने लगे। ऑफिस परिसर में गेट के दोनों ओर और कार्यालय से पचीस मीटर दूर सड़क के दोनों ओर अमलतास के पेड़ थे। पीले और सुनहरे फूलों से लदे उन पेड़ों ने मनीष पंडित का मन मोह लिया। वह अपलक उन्हें देखने लगे। ऑफिस गेट के बाहर उसकी दीवार से लगा हुआ एक देसी आम का पेड़ भी था, जिसमें कच्चे छोटे आम लटके हुए थे। किसी-किसी डाल में बौर भी दिख रही थीं। तभी उन्हें कोयल की आवाज सुनाई दी, जो एक डाल पर पत्तों के बीच छुपी बैठी थी।

‘बहुत अद्भुत और मोहक दृश्य है’ मनीष पंडित ने सोचा। सिगरेट की राख झाड़ने के लिए मेज तक गए और लौटकर फिर बाहर का दृश्य देखने लगे। ‘मुम्बई में मेरा कमरा चौदहवीं मंजिल पर था। चारों ओर ऊंची इमारतें। प्रकृति का यह सौन्दर्य वहां दुर्लभ था। कितना भाग्यशाली हूं कि यहां के लिए चुना गया। भले ही वेतन में कोई बड़ा अंतर नहीं लेकिन प्रभारी सम्पादक होने का सुख क्या कम है!’ सिगरेट समाप्त होने को थी। इस बार चिन्तन प्रक्रिया में उसकी राख चेंबर में बिछी कार्पेट पर गिर गयी थी। सिगरेट को ट्रे में डालकर वह पुनः खिड़की के पास आ खड़े हुए।

मनीष पंडित ने पत्रकारिता का अपना करियर दिल्ली की एक मासिक पत्रिका वनिता से प्रारंभ किया था। वर्ष में दो-तीन कहानियां लिख लेते जिनके प्रकाशित होने का संकट न था। पत्रकारिता में होने का लाभ लेना उन्हें आता था। वनिता में उप-सम्पादक थे और सम्पादक के कृपापात्र। सम्पादक ने साहित्य देखने और प्रथम निर्णय की जिम्मेदारी उन्हें सौंप रखी थी। सम्पादक उनके निर्णय पर भरोसा करते और उनके द्वारा स्वीकृत रचनाओं को प्रकाशित करने की अनुमति देते। मनीष पंडित अपनी इस

ताकत को पहचान गए थे और उन दिनों की सभी स्तरीय पत्रिकाओं से जुड़े पत्रकारों को पत्र लिखकर उनकी रचनाएं मंगाते और उन्हें बहुत सम्मान के साथ प्रकाशित करते। उसी स्थिति में उनकी एक भी कहानी अप्रकाशित कैसे रह सकती थी। वह पांच फुट पांच इंच लंबे, दुबले-पतले थे। उनके दुबले चेहरे पर दोनों ओर उभरी हड्डियां, बड़ी आंखें, मोटी भौंहें और थिरकती चाल मित्रों में चर्चा का विषय थी। प्रत्येक शनिवार की शाम वह प्रेस क्लब में दूसरी पत्रिकाओं के कथाकार मित्रों के साथ व्यतीत करते। पीने में कोई मित्र उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। प्रेस क्लब उनका आधा वेतन साफ करवा लेता। कई बार रात बिना टिकट बस की यात्रा करते या किसी मित्र से बस किराया उधार लेते। बस में सो जाते और नंद नगरी टर्मिनल पहुंच जाते। बस खाली होने पर बस कंडक्टर उन्हें जगाता। वहां से रात्रिसेवा की बस पकड़कर भजनपुरा पहुंचते, जहां अपने बड़े भाई-भाभी के साथ किराए के मकान में वह रहते थे। भाई उनसे पांच वर्ष बड़ा था।

उन दिनों वह इतना अनाकर्षक थे कि उनकी शादी के लिए आने वाला उनसे मिलने के बाद दोबारा लौटकर नहीं आता था। लेकिन उम्र की अपनी मांग होती है और उस मांग को वह कब तक ठुकराते। भाभी का सौन्दर्य उन्हें बरबस अपनी ओर खींचता लेकिन भाई का डर एक दिन मांग के समक्ष डर परास्त हो गया। शनिवार का दिन था। वह प्रेस क्लब से रात बारह बजे लौटे। उनके इस प्रकार लौटने पर भाई ने कई बार टोका था लेकिन हर बार उन्होंने ऑफिस में काम अधिक होने का बहाना बनाया था, “कल संडे है...मैटर प्रेस में जाना था।” लेकिन उस दिन भाई दिल्ली से बाहर था। यह उन्हें जानकारी थी। भाभी ने दरवाजा खोला। भाभी के दरवाजा बंद करते ही वह भाभी पर झपट पड़े थे। अचानक हुए हमले से

वह भौंचक थी। समझ नहीं पा रही थी...तभी उसे उनकी कलाई पकड़ में आ गयी और उसने कलाई में दांत गड़ा दिए। वह चीखते हुए नीचे ढह गए थे। दांत गड़े ही थे, खून नहीं निकला था। भाभी ने दरवाजा खोलकर उन्हें सीढ़ियों से नीचे धकेल दिया था। रात उन्होंने भजनपुरा बस स्टैंड में बितायी। सुबह अपने एक पत्रकार मित्र के घर गए, जो उनके साथ काम करता था और आदर्शनगर में अकेले रहता था। भाई-भाभी के अचानक बाहर चले जाने की बात बतायी और वेतन मिलने तक साथ रहने का अनुरोध किया। वेतन मिलने के बाद उन्होंने आदर्श नगर में ही एक सस्ता कमरा किराए पर लिया। सहयोगियों में काना-फूसी हुई। एक दिन एक सहयोगी, जो यमुना विहार रहता था और उनके भाई के किराए के मकान में जा चुका था उनके भाई से मिलने जा पहुंचा, और भाई ने उनकी दुष्प्रयास की कहानी उनके उस सहयोगी को बता दी थी। बात वनिता कार्यालय से होती हुई दिल्ली के लेखकों तक पहुंच गयी थी।

साहित्य की दुनिया विचित्र है। उसी घटनाओं को लोग रस लेकर एक शहर से दूसरे शहर तक पहुंचाते रहते हैं। बाहर के कुछ लेखकों को भी उनकी उस हरकत की जानकारी हो गयी। उन्होंने प्रेस क्लब जाना छोड़ दिया और शहर छोड़ने के प्रयास में जुट गए। तभी मुम्बई के एक राष्ट्रीय अखबार में वेकेन्सी निकली, उन्होंने आवेदन किया और चुने गए। बेशक उप-सम्पादक के पद पर ही गए, लेकिन वनिता के उप-सम्पादक के रूप में जो वेतन ले रहे थे उससे कुछ अधिक ही वेतन था। अपने साथ काम करने वाली युवती से शादी की जो उनकी ही भांति दुबली-पतली थी और उन्हीं की तरह शादी के लिए देखने आने वालों की उपेक्षा का शिकार थी।

मुम्बई में वह बीस वर्ष रहे और उप से वरिष्ठ उप, सहायक और संयुक्त सम्पादक तक की यात्रा

तय की, और अब उसी अखबार के उस नगर के प्रभारी सम्पादक बनाकर उन्हें वहां भेजा गया था। परिवार उन्होंने मुम्बई में ही रखने का निर्णय किया। लेकिन मुम्बई में अपने को स्थापित करने के प्रयासों में मनीष पंडित का लेखन अतीत का विषय बन चुका था। बीस सालों में उन्होंने मात्र दो कहानियां लिखी थीं।

धूप आंखों को चुभने लगी तो कुर्सी पर बैठते हुए उन्होंने चपरासी को बुलाने के लिए घण्टी बजायी। चपरासी उस समय बायीं गदौली में तंबाकू रखकर दाहिने हाथ की अगूठे की बगल वाली उंगली से चुनौटी से चूना निकालकर बायीं गदौली में रखने ही जा रहा था कि घण्टी बजी। क्षणभर उसने सोचा कि चूना मिला ले तब जाए। चुनौटी को कुर्ते की जेब के हवाले कर उसने जैसे ही चूना तंबाकू के साथ मिलाने का विचार किया कि तभी घण्टी दोबारा घनघना उठी। उसने चूना सहित तंबाकू पैरों के पास पड़े अखबार के छोटे-से टुकड़े पर रखा और दौड़कर दरवाजा खोल अटेंशन की मुद्रा में खड़ा हो बोला, “सर”।

“साहित्य सम्पादक आ चुके हों तो भेजो।” मनीष पंडित ने टाइम्स ऑफ इंडिया पर नज़रे झुकाए हुए कहा।

“जी सर!” चपरासी मुड़ने को हुआ कि उसे रोक बोले, “उसके बाद चाय।”

“जी सर!”

पांच मिनट बाद चपरासी ने सूचित किया कि सर साहित्य सम्पादक सुमित कुमार अभी आए नहीं है। शायद बारह बजे तक आएंगे।

“हुंह” अखबार में नज़रें गड़ाए हुए ही वह बोले, “आते ही भेजना और मैंने चाय के लिए कहा था।”

“जी सर। अभी ला रहा हूं। सुमित जी की सूचना देना जरूरी था न सर!”

“हुंह!”

ठीक बारह बजे रूमाल से पसीना पोंछते हुए लगभग पैंतालीस वर्ष के सुमित कुमार उनके चेंबर का दरवाजा खोलकर, “आ सकता हूं सर...मैं सुमित कुमार।”

“आइए।” आंखों से चश्मा उतार सुमित कुमार पर नज़रें गड़ाते हुए मनीष पंडित बोले और सामने पड़ी कुर्सी की ओर इशारा इशारा किया। सुमित कुमार लंबे, स्लिम, गोरे और चेहरे पर घनी दाढ़ी वाले भव्य व्यक्तित्व के धनी थे। सामने बैठे मरियल से अपने सम्पादक को देखकर, जो उनसे उम्र में पांच वर्ष ही बड़े थे, वह मन ही मन सोच रहे थे कि वह भी क्या कभी सम्पादक बन पाएंगे। और तत्काल उनके मन में विचार ने जन्म लिया कि शायद कभी नहीं, क्योंकि जो खूबियां सामने बैठे व्यक्ति में थीं, जिसकी सूचना पूरे कार्यालय को थी और जो मुम्बई से चलकर उन सब तक पहुंची थीं वह उनमें कभी नहीं आ पाएंगीं। मालिकों की चाटुकारिता वह कभी नहीं कर सकते जैसी सामने बैठे मनीष पंडित ने की थी। सम्पादक बनने के लिए मालिकों की हां-हुजूरी आवश्यक थी, जिसे अधीनस्थ तलवे सहलाना कहते थे।

“सुमित जी” मनीष पंडित ने सुमित के चेहरे पर नज़रे गड़ा दीं और कुछ सोचने लगे। सोच रहे थे कि ‘काश वह भी सुमित जितना सुन्दर होते। सामने बैठे सुमित नामके इस व्यक्ति के कितने ही अफेयर होंगे। नहीं भी हो सकते। लेकिन दिल नहीं मानता होंगे। अवश्य होंगे हो सकता है कि इसी दफ्तर में एक-दो हों। यहां तो मुझे देखकर ही लड़कियां बचकर निकल जाती हैं। मुम्बई में सारे प्रयास व्यर्थ रहे थे। एक को केबिन में घेरा तो उसने शोर मचा दिया था। यदि मालिकों का चहेता न रहा होता तब तो नौकरी चली ही गयी थी। लेकिन बात मुम्बई से लेकर दिल्ली तक फैल गयी थी।’

“सर, आपने याद किया।”

चौंक उठे मनीष पंडित। “हूँ हां...” कुछ देर चुप रहने के बाद बोले, “आप चाय पिएंगे?” और घण्टी बजाने ही वाले थे कि सुमित कुमार बोले, “सर, मैं चाय नहीं पीता।”

“ओह! बड़ी चीज पीते हैं?”

“बड़ी चीज सर?”

“यानी विदेशी ब्रैंड...” और मुस्कराए मनीष पंडित, “साथ रहा करेगा।”

“नहीं सर, वह भी नहीं। न पान, सिगरेट और न ही शराब।”

“गुड वेरी गुड-अखबार को आप जैसे कर्मठ और निरामिष लोगों की ही आवश्यकता है।”

“धन्यवाद सर।”

कुछ देर तक चुप्पी रही। दोनों के ऊपर पंखा बिना आवाज नाच रहा था। चेंबर में घुसने के पांच मिनट के अंदर ही सुमित कुमार का पसीना सूख चुका था। ए. सी. की ठंडक उन्हें अच्छी लग रही थी। वह वरिष्ठ उप-सम्पादक थे और उन्हें अलग से केबिन मिला हुआ था, जो इतना छोटा था कि उनकी तीन-बाई चार की मेज और उनकी कुर्सी के अलावा केवल तीन और कुर्सियाँ थीं वहाँ। एक उनके दायाँ ओर और दो उनके सामने। उनके सामने वाली कुर्सियों के पीछे या अगल-बगल बिल्कुल जगह नहीं थी। सामने बैठे व्यक्तियों को पैर सिकोड़कर बैठना होता। दायाँ ओर की कुर्सी ठीक दरवाजे के सामने थी और इतनी जगह थी कि उस पर किसी के बैठे होने के बाद वह सिकुड़कर अपनी कुर्सी तक पहुँचते थे। उनकी केबिन में उनके सिर के ऊपर एक छोटा पंखा प्लाईवुड के पार्टीशन पर टंगा हुआ था।

“सुमित जी” मनीष पंडित से अपना नाम सुनकर विचारों में खोए सुमित कुमार चौतन्य हो उठे, “सर!”

“अखबार के नगर संस्करण में साहित्यिक पृष्ठ प्रकाशित होता है?”

“नहीं सर! केवल राष्ट्रीय परिशिष्ट है, जो मुम्बई से प्रकाशित होता है। उसके लिए मेरे पास आयी रचनाएं चयन के बाद वहाँ भेज दी जाती हैं।”

“वह मुझे मालूम है। वह परिशिष्ट मैं ही देखता था।”

कुछ देर की चुप्पी के बाद मनीष पंडित बोले, “उसमें यहां के साहित्यकारों को अधिक स्पेस नहीं मिल पाता। मुम्बई से साहित्यिक परिशिष्ट रविवार को प्रकाशित होता है। मैं सोच रहा हूँ कि यहां के साहित्यकारों के लिए प्रबन्धकों से कहकर बृहस्पतिवार को साहित्य के लिए दो पृष्ठ बढ़वा लूँ।”

“सर, बहुत सही सोच रहे हैं आप। यहां के कई साहित्यकारों ने कितनी ही बार मुझे इस बारे में कहा...”

“अवश्य कहा होगा” तत्काल मनीष पंडित के मस्तिष्क में उन साहित्यकारों के नाम जानने की इच्छा जागृत हुई और उन्होंने पृष्ठ लिया।

“सर, नारायण प्रसाद, वैभव कुमार, वंदना विभूति, विक्रान्त क्रान्ति, विरस आजाद— “क्षणभर रुककर सुमित कुमार आगे बोले, “सर नगर में हर मोहल्ले में दो-चार कवि और नगर में लगभग पन्द्रह कथाकार हैं।”

“मुम्बई में किसी ने बताया था कि यहां प्रायः साहित्यिक कार्यक्रम होते रहते हैं। मतलब यह कि सांस्कृतिक रूप से बहुत जागरूक शहर है।”

“जी सर, सही सुना। नारायण प्रसाद जी को यह श्रेय जाता है।”

“शायद यह वही सज्जन हैं जो अपने पिता के नाम पर पुरस्कार देते हैं और उनके नाम से कई संस्थाएं संचालित हैं। उनके पिता नगर के बड़े साहित्यकार थे?”

“जी सर, उनके पिता सरस्वती प्रसाद नगर के बड़े साहित्यकार थे. यशपाल के निकट थे।”

“मैं नारायण प्रसाद जी से मिलना चाहूंगा। उन्हें फोन करके मेरी ओर से मिलने का आग्रह करें। मैं आज ही प्रबन्धन से बृहस्पतिवार को साहित्य के लिए दो पेज बढ़ाने का अनुरोध करूंगा।”

“जी सर!”

“नारायण प्रसाद जी से क्या बात हुई मुझे सूचित करेंगे।”

“जी सर!” सुमित कुमार उठ खड़े हुए। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि साहित्य के लिए दो पेज बढ़ जाने से नगर में साहित्यकारों के बीच उनका प्रभाव बढ़ जाएगा।

कुछ देर बाद आकर सुमित कुमार ने मनीष पंडित को सूचित किया कि नारायण प्रसाद उसी दिन शाम पांच बजे उनसे मिलने आने को तैयार हो गए हैं।

“नारायण प्रसाद जी” मनीष पंडित बोले, “नगर के साहित्यकारों के लिए, विशेषरूप से बृहस्पतिवार को, साहित्य प्रकाशित करने के लिए दो पृष्ठ बढ़ाने को लेकर मैंने आज ही मैनेजमेंट से बात की है। मेरी बात वह नहीं काटेंगे। इससे नगर में अखबार का प्रसार भी बढ़ेगा।”

“सर, आप बिल्कुल ठीक सोच रहे हैं। मैंने इस बारे में कई बार सुमित कुमार जी से चर्चा की थी।”

“सुना आप भी लिखते हैं?”

“जी सर। अब तक मेरे तीन कहानी संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। लिखता नौकरी के दौरान भी था, लेकिन अवकाश ग्रहण के बाद साहित्य को समर्पित हो गया हूँ।”

“नौकरी...?”

“जी मैं रेलवे में लेखा अधिकारी था।”

“बहुत प्रसन्नता की बात है। नारायण प्रसाद जी साहित्य आपके रक्त में है—वंशानुगत। प्रारंभिक दौर में मैंने भी बहुत लिखा। मेरे भी तीन कहानी

संग्रह हैं, लेकिन इस अखबार में आने के बाद से केवल दो कहानियाँ ही लिख पाया। अब आपकी संगत का लाभ उठाना चाहूंगा और यहां रहते हुए जमकर लिखना चाहता हूँ।”

“मैंने पढ़ी हैं आपकी कहानियाँ—आप शायद वनिता पत्रिका में थे सर!”

“हां, कुछ दिन रहा था वक्त काटने के लिए।”

“सर, सुनते हैं कि वनिता से निकले कितने ही पत्रकार बड़े पदों पर पहुंचे। आप भी आखिर आज इस अखबार के नगर प्रभारी हैं।”

“सब आप जैसे मित्रों की शुभकामनाएं हैं नारायण प्रसाद जी।” एक क्षण के लिए रुके मनीष पंडित और घण्टी बजाकर चपरासी को बुलाया। उसके आते ही कड़क आवाज में बोले, “शहर के इतने प्रतिष्ठित साहित्यकार मेरे पास आध घण्टा से बैठे हैं और तुम्हें चाय लाने तक का खयाल नहीं आया।”

“सर सर—अभी लाया सर।”

“तुरंत।”

“अरे आप चाय के लिए कष्ट न करें।” नारायण प्रसाद बोले, हालांकि उनकी चाय पीने की इच्छा हो रही थी।

“कुछ और मंगाऊं?”

“अरे नहीं सर! उसका अवसर मैं दूंगा आपको। किसी दिन मेरे गरीबखाने में तशरीफ लाएं।”

“जब आप कहेंगे।”

थोड़ी देर बाद चपरासी ट्रे में दो कप चाय और बिस्कुट की प्लेट सजाकर ले आया। नारायण प्रसाद मनीष पंडित की आव-भगत से अभिभूत थे।

“आप अपने पिताजी के नाम से जो पुरस्कार देते हैं उसके लिए चयन का आधार क्या होता है?” कप में चीनी घोलते हुए मनीष पंडित ने पूछा।

“सर, साहित्यकार के साहित्यिक अवदान

पर।”

“ओह! तब तो मैं भी हकदार बन सकता हूँ।”

“सर, बन नहीं सकते बल्कि एक क्षण पहले ही मैंने तय किया कि अगला पुरस्कार आपको ही दूंगा। आज ही इस आयोजन के संयोजक विक्रान्त क्रान्ति से चर्चा करके कल घोषणा कर दूंगा। आपसे अनुरोध है कि अपने अखबार में समाचार अवश्य छाप देंगे।”

“अरे, आपने तो कमाल कर दिया। मैं गर्वित हूँ और मेरे यहां ही क्यों समाचार दूसरे अखबारों में भी छपना चाहिए।”

“कोशिश होगी।”

“आप सभी को यह समाचार लिखित भेजेंगे तब अवश्य छपेगा।”

“वही करूंगा सर।”

मनीष पंडित से मिलकर नारायण प्रसाद गदगद थे। यह पहला अवसर था जब नगर के उस अखबार के सम्पादक ने उन्हें याद किया था।

कुछ देर बाद प्रसन्न नारायण प्रसाद अखबार कार्यालय से निकलकर सीधे विक्रान्त क्रान्ति के निवास पर पहुंचे। उस समय शाम के सात बज रहे थे और विक्रान्त क्रान्ति कुछ देर पहले ही ऑफिस से घर पहुंचे थे।

मनीष पंडित को ‘सरस्वती प्रसाद स्मृति पुरस्कार’ देने का नारायण प्रसाद का निर्णय सुनकर विक्रान्त क्रान्ति भड़क उठे, “आपको पता है इस व्यक्ति के बारे में?”

“क्या?”

“कि अपनी भाभी और मुम्बई में एक सहयोगी के साथ बलात्कार के आरोप हैं इस पर।”

“विक्रान्त जी, आरोपों की पुष्टि तो नहीं हुई न! झूठे भी हो सकते हैं। अफवाह भी हो सकती है। किसी की उन्नति को लोग आसानी से पचा नहीं पाते। मैं तो पहली ही मुलाकात में उनसे

प्रभावित हो गया। साहित्यिक व्यक्ति हैं। तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। ‘दैनिक जागृति’ के नगर और उसके आसपास प्रसार के लिए हर बृहस्पतिवार को साहित्य के लिए दो पृष्ठ बढ़ाने के लिए उन्होंने आज ही अपने मैनेजमेण्ट से बात की है और उम्मीद है कि जल्दी ही वह प्रारंभ हो जाएगा। तब हमें छपने के कितने अवसर मिलेंगे!”

“जब आपने तय ही कर लिया है और उन्हें कह भी दिया है तब—हथियार डाल दिए थे” विक्रान्त क्रान्ति ने।

‘सरस्वती प्रसाद स्मृति पुरस्कार’ समारोह का भव्य आयोजन लाला शंकरलाल भवन में किया गया। हॉल खचाखच भरा हुआ था। नगर के प्रतिष्ठित साहित्यकार वैभव कुमार कार्यक्रम के अध्यक्ष थे और विरस आजाद मुख्य अतिथि। वक्ताओं में विक्रान्त क्रान्ति और वंदना विभूति थे। दोनों ने मनीष पंडित की प्रशंसा में अपने शब्द भंडार खाली कर दिए। अध्यक्ष वैभव कुमार और विरस आजाद भी पीछे क्यों रहते, दोनों ने उन्हें उद्घट विद्वान, महान साहित्यकार घोषित किया और कहा कि उनके वहां होने से नगर ही नहीं, ‘सरस्वती प्रसाद स्मृति पुरस्कार’ भी गौरवान्वित हुआ है।

‘सरस्वती प्रसाद स्मृति पुरस्कार’ समारोह सम्पन्न हुए महीनों बीत गए, लेकिन नारायण प्रसाद और नगर के अन्य साहित्यकार ‘दैनिक जागृति’ में साहित्य के दो पृष्ठ बढ़ाए जाने की प्रतीक्षा ही करते रहे। वे कभी नहीं बढ़ाए गए क्योंकि उन्हें बढ़ाए जाने का प्रस्ताव मनीष पंडित ने मैनेजमेण्ट को कभी दिया ही नहीं।

रूपसिंह चन्देल

फ्लैट नं.705, टॉवर-8, विपुल गार्डन्स,
धारूहेड़ा, हरियाणा-123106
मोबाइल नं. 8059948233

ज्ञानपीठ

सुषमा मुनींद्र

विकास की बाट जोहता विकासशील गाँव।

तमाम गाँवों की तरह यहाँ भी विद्युत व्यवस्था है पर आपूर्ति ठप्प रहती है। तार में कटिया लगाकर घरों में रात्रिकालीन प्रकाश किया जाता है। चापाकल कल हैं जो लोगों की लापरवाही और नासमझी की सजा पाकर टूटे पड़े हैं। चार-छः साल पहले लगाये गये सरकारी नलों में दो-चार माह नीर आता है, आठ महीने पवन निकलती है। पहुँच मार्ग है जो इन दिनों इतना जख्मी है कि झोल-झटके खाकर व्यक्ति का आमाशय पतला हुआ जाता है। पर्यावरण असंतुलन से तुनक मिजाज हो गया मौसम चकमा दे रहा है। फसल कभी अल्प वृष्टि से तबाह होती है कभी अति वृष्टि से, कभी पाला मार जाने से। एक अलहदा सी बात जरूर है कि यहाँ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है, जिसके शासकीय हो जाने का पूरा-पूरा अनुमान है। पहले यह स्कूल माध्यमिक था। गाँव की गोरियाँ जैसे ही मिडिल पास कहाँती उनके हाथ पीले करने के प्रयास शुरू कर दिये जाते। अब गाँव का ऐसा इम्प्रूवमेंट हो गया है कि जिन बहुओं-बेटियों से अपना नाम शुद्ध रूप में लिखते नहीं बनता वे बारहवीं की परीक्षा में साठ-बाँसठ प्रतिशत सरलता से कबाड़ ले रही हैं। बहुओं की बहनें अथवा भाभियाँ, बेटियों की भाभियाँ अथवा ननदें, जो जैसी योग्य हों इनके रोल नम्बर पर बैठ कर परीक्षा देती हैं और ये बहुयें-बेटियाँ हायर सेकण्ड्री उत्तीर्ण कहला कर खुद को योग्य साबित करती हैं। सुनते हैं लड़के वाले जब इस गाँव में लड़की देखने आते हैं तो कहते हैं - हम दहेज जो लेंगे, वह तो लेंगे ही, लड़की बारहवीं पास होनी चाहिये। विद्यालय चूँकि शर्तिया पास होने का अड्डा बन गया है, गाँव के वे विद्यार्थी भी अस्सी प्रतिशत पा रहे हैं जो अपना नाम शुद्ध रूप से नहीं लिख पाते। शासकीय नियमानुसार निचली कक्षाओं में विद्यार्थी को अनुत्तीर्ण नहीं किया जा सकता। विद्यार्थियों के फेलियर को शिक्षकों की अयोग्यता समझ, शिक्षकों का इन्क्रीमेंट रोक दिया जाता है। जाहिर है शिक्षक सिद्धांतों को लेकर चलना चाहें तो चल नहीं सकेंगे। बिना मेहनत के कक्षा पास करते जा रहे विद्यार्थी बोर्ड परीक्षा में कुछ जागरुक हो जाते हैं। बोर्ड परीक्षा में शाला का परिणाम शत-प्रतिशत रहे तो शाला यशस्वी बनती है। लाजिमी हो जाता है, विद्यार्थियों को नकल के मौके दिये जायें। विद्यार्थियों ने चूँकि कलम ठीक से अब तक न पकड़ी थी तो नकल करते हुए इतनी अशुद्धियाँ करते हैं कि नाम मात्र को जो शुद्धियाँ होती हैं, अशुद्धियाँ जान पड़ती हैं।

माध्यमिक विद्यालय को उच्चतर माध्यमिक हुए कुछ बरस हो गये हैं। योजना नहीं थी, खाली बेटे कुछ स्नातक और परा-स्नातक लड़कों का उपक्रम था। उपक्रम चूँकि बाल कृष्ण जो बाद में बी. के. हुआ के जेहन में सबसे पहले आया, वह प्रणेता कहलाने लगा। बी. के. ने दो-चार लड़कों के साथ प्रदेश की राजधानी में खूब आना-जाना किया। शासकीय नियमावली में लेन-देन की महिमा है। लेन-देन ने पंजीकरण से लेकर जरूरी कागजी औपचारिकताओं को सरल कर दिया। कक्षायें आरम्भ करने के लिये अध्यापक बनने की खाइश रखने वाले लड़कों ने क्षमतानुसार राशि दी। राशि का मुख्य अंश बी. के. ने दिया। प्रयास और पैसे के आधार पर वह सर्वसम्मति से प्राचार्य के सिंहासन पर आरुढ़ हुआ। समिति में प्रमुख लोगों को रखा कि मौके-मौके पर काम आयेंगे। क्षेत्र के विधायक के टाइम पास कर रहे अनुज जो चुनाव के समय विधायक

के पक्ष में माहौल बनाते गाँव-गाँव बागते हैं अध्यक्ष, गाँव के सेवा निवृत्त कृषि विभाग के अधिकारी उपाध्यक्ष, बाल कृष्ण के व्यवसायी ममेरे भाई सचिव, गाँव के भूतपूर्व सरपंच, कोषाध्यक्ष बनाये गये। नीति और नैतिकता को ये चारों अपना निजी मामला नहीं मानते लेकिन पन्द्रह अगस्त और छब्बीस जनवरी पर स्कूल में भाषण देते हुए नीति और नैतिकता

2

पर खूब बोलते हैं। बी. के. गाँव के शहीद तोपची श्याम लाल के नाम पर विद्यालय का नाम रखना चाहते थे पर वर्तमान विधायक जो अध्यक्ष के अग्रज हैं और हर बार शर्तिया तौर पर चुनाव जीतने के कारण इस बार प्रदेश सरकार में मंत्री हैं ने दबाव डाला था यदि विद्यालय का नाम उनके बैकुंठ वासी पिता के नाम पर रखा जाये तो वे थोड़ा-बहुत अनुदान देंगे और विद्यालय को शासकीय कराने का हर सम्भव प्रयास करेंगे। बात लाभप्रद थी। बी. के. और तमाम अध्यापकों के जिगर में विद्यालय के स्थायित्व, सफलता, स्तर को लेकर एक जब्बा, ज्वार, जुनून था। पैसा अपरिहार्य तत्व है और नाम में कुछ नहीं रखा। श्याम लाल न सही, ठाकुर तेज बली उच्चतर माध्यमिक विद्यालय ही सही। हमें गांधी बनने की खास जरूरत नहीं है।

समिति की एक अदा है तो अध्यापकों की अलग अदा है। बी.के. सहित समस्त अध्यापक डिग्री लेकर भी नौसिखिये टाइप हैं। ऐसे स्कूल और कस्बे के कॉलेज में पढ़े हैं जहाँ शिक्षिकों के पास न विषय का ज्ञान था न व्यवहारिक ज्ञान। नकल कर, उत्तर पुस्तिकायें बनवाकर, डिग्री प्राप्त करने वाले ये ऐसे खोटे सिक्के हैं जो दुनिया के किसी बाजार में नहीं चलते। डिग्री होने से इन्हें खेती-काश्तकारी में लज्जा आती है। ज्ञान न होने से औद्योगीकरण, बाजारीकरण, भूमण्डलीकरण वाले माहौल में इन्हें जॉब नहीं मिलता। बी. के. सहित समस्त अध्यापकों की समझ में आ

गया विद्यालय में साक्षरता तभी नजर आयेगी जब योग्य बाहरी शिक्षकों को नियुक्त किया जाये।

बी. के. बड़ा चिंतित हुए “बाहरी शिक्षक मुफ्त में नहीं पढ़ायेंगे। कम या अधिक लेकिन वेतन लेंगे। तभी दे पायेंगे जब कैण्डीडेट (छात्रों) की संख्या बढ़े। लोकल के अलावा बाहरी कैण्डीडेट नहीं आ रहे हैं। कैण्डीडेट बिछिया के परीक्षा केन्द्र की ओर भाग रहे हैं। वहाँ खुली नकल होती है। बिछिया स्कूल वाले खूब ठगाई कर रहे हैं। कोशिश करनी होगी जल्दी से जल्दी हमारे विद्यालय में परीक्षा केन्द्र बने। कैण्डीडेट नहीं आयेंगे तो न हमें फीस मिलेगी, न अध्यापकों को वेतन, न संस्था विधिवत चलेगी। हम सब फिर से सड़क पर आ जायेंगे।”

किसी ने सोच-विचार कर ही कहा होगा, घूरे के भी दिन फिरते हैं। विधायक जी बचनबद्ध निकले। विद्यालय को शासकीय अब तक न करा पाये हैं पर परीक्षा केन्द्र बनवा ही दिया। परीक्षा केन्द्र बनने को चमत्कार की तरह देखा गया। ठाकुर तेजबली उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की सुकीर्ति दिग-दिगंत में फैलने लगी। अब तो विद्यालय शर्तिया पास होने का अड्डा बन चुका है। प्रति वर्ष दो-ढाई हजार विद्यार्थी अच्छा प्रतिशत बना रहे हैं। तीन-चार वर्ष से निरंतर अनुत्तीर्ण हो रहे बाहरी विद्यार्थी श्रेणी सुधार के लिये तादाद में आते हैं। फीस का कहें तो पाँच हजार रुपिया सालाना एकदम तुच्छ है। प्रवेश के समय ढाई हजार, प्रैक्टिकल के समय एक हजार, परीक्षा फार्म के समय डेढ़ हजार रुपिया लिया जाता है। सौ रुपये में मार्कसीट दी जाती है। किस्सा यह भी है पन्द्रह अगस्त को झंडा फहराने आई सरपंचिन (आरक्षित पिछड़ा वर्ग की वर्तमान सरपंच) से अध्यक्ष महोदय ने दिल्ली की -

“फार्म भर दीजिये। किसी हुसियार विद्यार्थी से आपकी काँपी लिखवा देंगे।”

सरपंचिन लजा गई “हम का पढ़ेंगे इ उमिर में। आपका विद्यालय सुचारु चले यह आसीस देंगे।”

विद्यालय सचमुच सुचारु चल रहा है। प्रवेश और परीक्षा के दिनों में कुम्भ पर्व सी भीड़ रहती है। समीपवर्ती गाँव, कस्बे, जनपद से तादाद में विद्यार्थी आते हैं। गाँव की रौनक बढ़ जाती है। रौनक हो तो कुछ रचनात्मक हो ही जाता है। गाँव के लड़के नंदन ने तत्काल प्रभाव से स्टेशनरी, बिस्कुट, चाकलेट, नमकीन, सिगरेट, राजश्री लाकर जनरल स्टोर सजा लिया - नंदन स्टोर। प्रवेश और परीक्षा का महत्व समझ उसकी पत्नी टिफिन सेंटर

3

चलाने लगी। नंदन स्टोर के नीचे लिखा गया - महाकाल भोजनालय। पचास रुपिया थाली खाना और अतिरिक्त पचास रुपिया में ठहरने के लिये परछी, आँगन, छत, चौगान।

प्रायोगिक परीक्षा का कहें तो विद्यालय में इसका गुल्ली-डंडे के खेल से अधिक महत्व नहीं है। अल्प सामग्री, अल्प उपकरण वाली प्रयोगशाला। भृत्य एक-दो चूहे या मेंढ़क पकड़ लाता है। अध्यापक विच्छेदन कर विद्यार्थियों को समझा देता है, इसे विच्छेदन कहते हैं। कोई सिद्ध दिमाक विद्यार्थी प्रश्नय कर दे, “सर, हम लोगों ने आज तक विच्छेदन नहीं किया, प्रैक्टिकल में कैसे करेंगे? एक्सटरनल नम्बर नहीं देगा।”

अध्यापक के पास वैलिड जवाब होता है, “एक्सटरनल डिस्क्रेशन देख कर नहीं नोट देख कर नम्बर देता है।”

प्रायोगिक परीक्षा के दरमियान विद्यालय अनोखे दौर से गुजरता है। इस बार अनोखापन अधिक था। केमिस्ट्री का एक्सटरनल एग्जामिनर देर तक नहीं आया।

इंटरनल ने प्रैक्टिकल करा दिया। समय समाप्ति पर एक्सटरनल आय। सबको काफी अच्छे अंक दे गया। फिजिक्स का एक्सटरनल बहुत घाघ। खुल कर बोला- “अच्छे नम्बर चाहिये तो सभी विद्यार्थी

पाँच-पाँच सौ रुपिया दो।”

बायो का एक्सटरनल समय पर आया और विद्यालय के कृत्य से खफा हो सिद्धांत की जानकारी देने सीधे बी. के. के पास गया - “यह क्या है सर?”

बी. के. समझ गये पैसा ऑफर किया गया है। बोले -

“यह हमारे ही स्कूल में नहीं शहरों के कई स्कूल में हो रहा है। एक्सटरनल खुद पैसे की माँग करते हैं। न दो तो विद्यार्थियों को अंक नहीं देते। एक्सटरनल को पैसे देने की हम लोगों ने आदत डाल ली है। कम हो तो कहें व्यवस्था करता हूँ।”

“आपके विद्यार्थियों ने लगता है पहले कभी डिसेक्शन नहीं किया। अध्यापक क्या कुछ नहीं सिखाते-पढ़ाते?”

“गुस्ताखी माफ करें। हमें विद्यार्थी ही ऐसे घटिया मिलते हैं। आप मानें न माने विद्यार्थी अपना नाम ठीक से लिख नहीं पाते। विद्यार्थी को फेल कर दो तो उसके पिता लड़ने आ जाते हैं पास नहीं कर सकते तो फीस लौटाओ। भ्रष्ट व्यवस्था को और भ्रष्ट करने के अलावा हमारे पास ऑप्शन नहीं है। नियमानुसार चलना चाह कर भी नहीं चल पाते। विद्यार्थियों को नकल न करने दे तो अगले साल वे उस केन्द्र से परीक्षा देंगे जहाँ नकल होती है। इस बार तहसील के थानेदार, दो डॉक्टरों के लड़के और हमारे स्कूल के अध्यक्ष की साली की लड़की ने यहाँ से फार्म भरे हैं। थानेदार ने साफ कहा है उनके लड़के के अस्सी प्रतिशत से कम नम्बर आये तो बलवा हो जायेगा। बतायें आप, हम क्या करें? पूरे देश की व्यवस्था बिगड़ी पड़ी है। सिद्धांत की बात कर हम और आप अपना नुकसान ही करेंगे। हमारे स्कूल की इमेज आपके हाथ है।”

एक्सटरनल नरम पड़ गया। जो दिया खुले मन से ग्रहण कर खुले मन से विद्यार्थियों को अंक दे गया।

लेकिन लोमहर्षक सीन सालाना परीक्षा में बनता है। जो इस बार भी बना। परिसर में विद्यार्थी ही विद्यार्थी। शहरी परिधान, जूते, सैण्डल, सन ग्लासेस, परफ्यूम से सजे शहरी छात्र-छात्राओं को ग्रामीण-कस्बायी छात्र-छात्रायें लोभ से देख रहे हैं। कई विद्यार्थियों के साथ दो-तीन लोगों का सहयोगी दल है। इस दल में कोई बाहर बैठ कर प्रश्न पत्र हल करेगा और कोई उत्तर परीक्षा कक्ष में बैठे परीक्षार्थी को पहुँचायेगा। परीक्षा कक्ष में पर्चा बाँटा जा चुका है। परीक्षा के दिनों में अध्यक्ष का विद्यालय में कोई काम नहीं लेकिन इस बार उनकी साली की तीन साल से बारहवीं में रेस्ट फरमा रही सुपुत्री बुलाकी परीक्षा दे रही है। बुलाकी, केन्द्र से अनुत्तीर्ण होती है तो साली की नजरों में उनकी इमेज न बचेगी। अध्यक्ष को देख कर तिवारी सर हड़बड़ी दिखाते हुए उनकी ओर आये - “यहाँ क्यों खड़े हैं? प्रिंसिपल रूम में केन्द्र अध्यक्ष के साथ बैठे। कुछ अच्छी बात करें। यहाँ का मैं देख लूँगा। मेरी बेटी नलिनी भी परीक्षा दे रही है। मैंने अपने भाई की लड़की लालिमा को बुला लिया है। ग्रेजुएट है। होशियार है। पूरा पर्चा हल कर देगी। उसे कह देता हूँ, बुलाकी को भी उत्तर पहुँचते रहें। आइये।”

प्राचार्य कक्ष में अपनी अपरम्पार महिमा लिये केन्द्र अध्यक्ष, बादशाह जैसे भाव में विराजमान हैं। परीक्षा खत्म होने पर आप भारी रंगीन प्लाज्मा टी. वी. इस संस्था की ओर से ग्रहण करेंगे। बी. के. की थियरी है, केन्द्र अध्यक्ष को इतना खिलाते-पिलाते रहो कि टीका-टिप्पणी करने के लिये इनका मुख खाली न रहे। ऑफर की गई कुर्सी में बैठते हुए अध्यक्ष ने केन्द्र अध्यक्ष से कहा - “सुनाइये, साहब कैसा चल रहा है।”

केन्द्र अध्यक्ष ने मुख में ठुँसा लजीज पदार्थ, भोजन नली में उतारते हुए कहा- “इस संस्था में केन्द्र अध्यक्ष बनने का पहला मौका है। उड़न दस्ता

तो न आ जयेगा?”

बी. के. ने वक्ता बड़ जोगी की भाँति समझाया, “न आये इसका पूरा इंतजाम है। गाँव के पहुँच मार्ग के मुहाने पर चार मोबाइल धारी लड़के तैनात हैं। इस बार हमारे केन्द्र से थानेदार के सुपुत्र परीक्षा दे रहे हैं। थानेदार ने संकेत दिया है उड़नदस्ता तो क्या चिउटी न आयेगी। इतने पर भी उड़न दस्ता वाले आते हैं तो मोबाइल धारक तत्काल हमें कॉल करेंगे। हम नकल करवाने वालों को तुरंत रफा-दफा कर देंगे। डोंट वरी।”

केन्द्र अध्यक्ष कृतज्ञ हुए लेकिन बोले, “थानेदार ही अपने बच्चों को गलत तरह से पास करायेंगे तो देश का भविष्य क्या होगा?”

बी. के. ने व्याख्या दी, “वे थानेदार हैं लेकिन पिता भी हैं। आप तो जानते हैं संतान ऐसी जिम्मेदारी होती है जो न निगलते बनती है, न उगलते बनती है। इस जिम्मेदारी को निभाते हुए पिता को वैध-अवैध, नैतिक-अनैतिक, सामाजिक-असामाजिक बहुत कुछ करना पड़ता है।”

बात नैतिक-अनैतिक की हो तो लोग अपने अनुभव सुनाने ही लगते हैं। सभा जम गई। अनुभव आने लगे - “मैं जिस यूनिवर्सिटी में पढ़ता था, वहाँ के कुलपति की पत्नी ने बी. ए. फिर एम. ए. पचपन वर्ष की अवस्था में किया था।”

“पढ़ने की कोई उम्र नहीं होती। और फिर कुलपति का परिवार उपाधि न पायेगा तो हम पायेंगे?”

5

“यही हो रहा है। जो जिस विभाग में है विभाग को अपना सर्वश्रेष्ठ दे नहीं रहा है, विभाग का सर्वश्रेष्ठ ले रहा है। जंगल विभाग वाले जंगल को नुकसान पहुँचा रहे हैं। न्यायालय में न्याय कम, अन्याय अधिक हो रहा है। पुलिस विभाग बहुत भ्रष्ट है। विद्यालय में ज्ञान न देकर विद्यार्थियों को अज्ञानी बनाया जा रहा है।”

“विद्यालय क्या करेगा? विद्यार्थी पढ़ना ही नहीं चाहते। देख ही रहे हैं एक-एक विद्यार्थी के साथ तीन-चार मददगार आये हैं।”

“विद्यार्थी क्या करें? प्राथमिक कक्षाओं में श्यामपट तक नहीं हैं। कई गाँवों में कक्षाएँ पेड़ के नीचे लगती हैं। शिक्षक कैसे अक्षर ज्ञान कराये और विद्यार्थी कैसे पढ़ें। मददगार तो आयेंगे ही।”

“छात्रों की तो छोड़ो, उनके बाप पेपर होते ही भाग-दौड़ करने लगते हैं कि लड़के की काँपी जाँच के लिये कहाँ गई है। विश्व विद्यालय की दशा यह कि कुछ हजार देकर प्रथम श्रेणी पा लीजिये। डाक्टरेट कर लीजिये।”

बी. के. पुनः उवाचे “बिल्कुल। हमारा विद्यालय कैसे चल रहा है, सो हम जानते हैं। छात्र इतने ताकतवर हो गये हैं कि हम नकल न करने दें तो कहो हमको पीट दें। हम डेढ़ पसली के आदमी। एक लप्पड़ में उतान हो जायेंगे। पूरे देश की व्यवस्था बिगड़ी पड़ी हो आप और हम सिद्धांतों की बात पर अपना भारी नुकसान कर लेंगे।”

नुकसान शब्द ने अध्यक्ष को प्रेरित किया। बुद्धि परीक्षण के लिये परीक्षार्थियों को यह जो तीन घंटे दिये गये हैं, वे तेजी से बीत रहे हैं। देखें बुलाकी क्या कर रही है? यदि गाल पर हाथ धरे, व्यर्थ बैठे होगी, साली के सम्मुख इमेज न बचेगी कि जीजाजी आपको एक काम सौंपे पर आप न कर पाये। बड़ा अध्यक्ष बने फिरते हैं।

“थोड़ा बाहर भी नजर रखनी चाहिये।” कह कर अध्यक्ष पीठ दिखाये हुए से चल दिये। देखते हैं प्रांगण गतिविधियों से भरा है। पाण्डित्य के हिसाब से पर्चा हल किया जा रहा है। उत्तर मुस्तेदी से विद्यार्थियों तक पहुँच रहे हैं। तिवारी सर, लालिमा से कुछ पूँछ रहे हैं। उन्हें ढूँढ़ते हुए अध्यक्ष पहुँच गये। तिवारी सर ने तृप्त भाव से कहा -

“बुलाकी को उत्तर पहुँच रहे हैं। नलिनी और बुलाकी के रोल नम्बर अलग-अलग कक्षा में होने से

थोड़ी दिक्कत है पर उत्तर पहुँच रहे हैं।”

लालिमा ने तिवारी सर को झिड़क दिया, “चाचा, कम बोलिये। पेपर थोड़ा टफ है। और डिस्टर्ब किये जाते हैं।”

टफ।

अध्यक्ष को इस शब्द ने प्रेरित किया। देखें बुलाकी क्या फरमा रही है। वे बुलाकी के कक्ष में दाखिल हुए। परीक्षार्थी नकल में दत्त। जिनको मददगार मिले हुए हैं, ठीक है। जिनको नहीं मिले, वे अगल-बगल झाँक कर टीप रहे हैं। जबकि बुलाकी ...? कलम चला रही है लेकिन मंद-मंद। इसकी लिखावट कितनी भद्दी है। शुद्धियाँ कम। अशुद्धियाँ अधिक। वे बुलाकी की मेज पर थोड़ा झुक कर प्रश्न पत्र पढ़ने लगे। सदमा लगा। इतने बड़े प्रश्न पत्र में एक-दो आब्जेक्टिव के अतिरिक्त उनसे कुछ नहीं बनता। सदमा छिपाया और बुलाकी से बोले - “इतना भद्दा लिख रही हो। जाँचने वाला पढ़ न पायेगा। जीरो दे देगा।”

“मउसिया (मौसा) ये उत्तर कौन लिख रहा है? कहो थोड़ा साफ लिखे। इतना घसीटा लिखा है कि हमको समझय में नहीं आता।”

6

अध्यक्ष लालिमा की जानिब भागे - “लालिमा, साफ लिखावट में लिखो। बुलाकी से ठीक से नकल करते नहीं बन रहा है।”

“समय कम है। राइटिंग सजाती रहूँगी तो पूरा पर्चा हल नहीं होगा।” लालिमा प्रश्न पत्र में उलझी रही।

“थोड़ी मुस्तेदी दिखाओ ... समय सचमुच कम है।” कहते हुए अध्यक्ष ने कलाई घड़ी पर नजर डाली। चिंतित हुए। यदि यही स्थिति रही तो साली की दृष्टि में उनकी इमेज का फालूद होना ही है।

मोबाइल : 08269895950

खोमचें भर मुहब्बत

डॉ. रंजना जायसवाल

फरवरी की गुलाबी ठंड कहीं दूर रेडियो पर लता जी के प्यार भरे नगमों की मंद स्वर लहरी हवा के पंखों पर सवार होकर खिड़की से आ रही थी। खिड़की से झांकती चाँदनी और सफेद चाँद की रौशनी से झोपड़ी नहा उठी। शांति ने न जाने क्या सोचकर खिड़की के पर्दों को हटा दिया, चाँदनी पूरे झोपड़ी में बिखर गई। ठंडी हवाओं के साथ दूधिया चाँदनी को उसने आने दिया मानो प्यार के इस मौसम में वो अपने हिस्से की चाँदनी को समेट लेना चाहती हो। जिंदगी का फलसफा भी तो यही है, हर आदमी को अपने हिस्से की खुशियाँ मिलती है। बस निर्भर इस पर करता है कि वह उसे कैसे समेटता है। आज काम से जल्दी छुट्टी मिल गई थी, मालिक और मालकिन आज बाहर खाना खाने गए थे। मालकिन आज बहुत खुश थी, सुबह ही बताया था आज प्रेम करने वालों का दिन है। साहब ने उन्हें बड़ा सा लाल सुर्ख गुलाब का गुलदस्ता और मखमली डिविया उपहार में दिया था। मालकिन ने मालिक को खुशी से गले लगा दिया था।

“छिः! ऐसे कोई अपने मर्द को सबके सामने गले लगाता है क्या... घर में नौकर-चाकर है। जरा भी शर्म नहीं आती इन बड़े लोगों को?”

शांति अपने झोंपड़े में सिगड़ी जलाने का प्रयास कर रही थी, कुछ दिनों से रह-रहकर पानी बरस रहा था। लकड़ियाँ भी गीली थी, गीली लकड़ियाँ सू-सू की आवाज कर रही थी। गीली लकड़ियों की वजह से झोंपड़े में धुआँ भर गया। उस धुएँ में शांति की चाँदनी कहीं खो गई, मालकिन का चेहरा बार-बार उसके सामने घूम रहा था। मालकिन ने बताया था कि मालिक से उनका प्रेम विवाह हुआ था। परिवार वालों के खिलाफ जाकर उन्होंने विवाह किया था। प्रेम विवाह... उसका भी तो प्रेम विवाह हुआ था, माधव उसके मुहल्ले में ही भेलपूरी का खोमचा लगाया करता था। उसकी आँखों में ऐसा कुछ था जो उसे खींचता था, माधव भी तो कुछ ऐसा ही महसूस करता था। कितनी बार उसने उससे भेलपूरी के पैसे नहीं लिए थे... “तुझसे क्या पैसे लेने।” ये कहते-कहते उसकी आँखों में शरारत उभर आती और शांति शर्म से दोहरा जाती। आज भी उसे वह दिन याद है, उसका बाप हमेशा की तरह शराब पीकर पूरे मोहल्ले में बवाल मचाए पड़ा था। आज उसके हाथ में विलायती शराब थी, शांति समझ नहीं पा रही थी बापू के पास आखिर इतने पैसे कहाँ से आ गये। शांति ने बापू के पास खाने की थाली रखी ही थी कि बापू ने वो थाली दीवार पर दे मारी और उसका हाथ पकड़कर उसे घसीटने लगा।

“चल तुझे मालिक ने बुलाया है।”

“इतनी रात को...?”

“तू मुझ से सवाल करती है, तेरी इतनी हिम्मत।”

बापू का हाथ शांति की तरफ बढ़ा ही था कि एक मजबूत हाथ ने बापू के हाथ को रोक लिया। माधव शांति की ढाल बनकर खड़ा था। शांति चुपचाप उसे देखती रह गई।

“तेरी इतनी हिम्मत की तू मुझे रोके।”

बापू माधव को मारने के लिए आगे बढ़े पर शराब के नशे में धुत बापू वही दीवार के पास लुढ़क

गए। माधव ने शांति का हाथ पकड़ा और उसकी आँखों में आँख डाल कर कहा, “तुम्हें मुझ पर भरोसा है न...कब तक इस नर्क में रहोगी। क्या तुम मेरे साथ जीवन बिताने को तैयार हो।” न जाने उसकी आँखों में ऐसा क्या था। शांति चुपचाप सर झुकाए माधव के पीछे-पीछे चली आई, वह दिन था और आज का दिन... शायद इसे ही प्रेम कहते हैं उसने भी तो प्रेम विवाह ही किया था।

परसों पूर्णिमा थी, कोरोना की वजह से सैलानियों का आना बंद था पर प्यार के इस महीने में प्रेमी युगल ताजमहल के दीदार को आ ही जाते। चाँदनी में नहाये संगमरमरी शाहकार की एक झलक पाने को हर आदमी खिंचा चला आता। ताज की पच्चीकारी में कीमती पत्थर लगे हैं जो चाँदनी रात में चाँद की रौशनी पड़ते ही चमकने लगते हैं। इन नगीनों को चमकने के कारण उन्हें चमकी भी कहा जाता था। माधव जब बहुत खुश होता तो वह उसे इसी नाम से पुकारता था।

शांति की झोपड़ी से ताज कितना खूबसूरत दिखता था। एक बार शांति ने माधव को छेड़ा भी था,

“एक राजा अपनी पत्नी को इतना प्यार करता था कि उन्होंने उसके लिए ताजमहल बनवा दिया और तुमने...!”

शांति की बात सुन माधव कितना उदास हो गया था, वो सूट-बूट वाले साहब जो सैलानियों को ताजमहल दिखाते थे। उन्हें अक्सर कहते सुना था, “एक शहंशाह ने बनवा के हंसी ताजमहल हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक।” तब शांति ने माधव के हाथों को हाथ में लेकर कहा था, “मेरी लिए तो ये झोपड़ी किसी ताजमहल से कम नहीं...वो उस राजा की मुहब्बत की निशानी थी और ये हमारी।” उसकी बात सुन माधव

कितना खुश हो गया था। उस दिन उसने कुछ भी नहीं बोला था पर उसकी वो बातूनी आँखें कितना कुछ बोल गई थी।

कोरोना के कारण ताजमहल बन्द रहता था, लोग यमुना के उस पार से ताजमहल का दीदार करने आते। आजकल माधव बहुत तड़के ही अपना खोमचा लेकर पहुँच जाता। इधर बंदी के कारण कमाई कुछ ठीक नहीं थी पर उम्मीद थी कि भेलेन्टाइन डे में बिक्री होगी। नव युवक-युवतियों से मनमर्जी वसूलते थे सब...प्रेम में गले तक डूबे जोड़े सुकून की तलाश में यहाँ-वहाँ डोलते रहते। माधव ने खोमचे के ऊपर सफेद बगुले सी झक मुरमुरे की ढेरी लगा रखी थी और लाल-लाल टमाटर, हरी करारी मिर्च और छिले हुए प्याज से उनकी सीमा-रेखा भी खींच रखी थी। उबले हुए आलू, पपड़ी, सेव, कटी धनिया, रसीले नीबू और वो जादुई मसाले एक तरफ...प्लास्टिक के छोटे-छोटे डिब्बों में खट्टी-मीठी रंग-बिरंगी चटनियों में गजब का स्वाद था। शांति हरी चटनी सिलबट्टे पर पीसकर बनाती थी। जादू था उसकी उंगलियों में जो एक बार उसके हाथ की चटनी खा ले उंगली चाटता रह जाये।

माधव ने अभी खोमचा लगाना शुरू ही किया था कि एक युगल जोड़ा आइसक्रीम खाता हुआ आ गया। उन्हें देखकर ऐसा लग रहा था कि वह दोनों आकंठ एक-दूसरे के प्रेम में डूबे हुए हैं। दोनों एक ही आइसक्रीम से खा रहे थे।

“बाबू साहब! हमारे हाथ की भेलपूरी खा कर तो देखिए सब कुछ भूल जायेंगे। यहाँ आस-पास हमारी टक्कर का कोई भेलपूरी नहीं बनाता, पूरे इलाके में मशहूर है माधव की भेलपूरी। जो खाएगा उसका प्रेम अमर हो जाएगा, जन्म-जन्म तक का साथ रहेगा।”

उसकी बात सुनकर युगल खिलखिला कर हँस पड़े।

“तुम तो एम बी ए वालों को भी फेल कर दो, क्या जबरदस्त मार्केटिंग करते हो।”

उनकी बात सुन माधव शरमा गया,

“काहे की मार्केटिंग बाबू साहब... हम अंगूठा छाप आदमी आप लोगों की बराबरी कहाँ कर पाएंगे। आज तो भैलेन्टाइन डे है।”

उसकी बात सुन युगल मुस्करा पड़े,

“हाँ! आज भैलेन्टाइन डे है।”

उन दोनों ने भी माधव के सुर में सुर मिलाया।

“बाबू साहब! फिर भेलपूरी से कैसे काम चलेगा।”

माधव ने अपने खजाने से गुच्छे वाला टेडी बेयर निकालकर मैडम के हाथों में पकड़ा दिया।

“सिर्फ तीस रुपये का है, इससे सस्ता आपको पूरे मार्केट में नहीं मिलेगा और यह पाँच रुपए वाली चॉकलेट भी...”

माधव की हरकत को देख वह लड़की ठठा मारकर हंस पड़ी। उसने अपने पुरुष मित्र को कोहनी मारते हुए कहा,

“इन लोगों को भी चॉकलेट डे और टेडी डे के बारे में पता है।”

माधव ने लपककर जवाब दिया,

“दीदी! हम पढ़े लिखे नहीं हैं तो क्या हुआ, दुनिया की खबर हम भी रखते हैं।”

माधव ने भेलपूरी का दोना दोनों को हाथ में पकड़ाया और...

“हैप्पी भैलेन्टाइन डे...”

“तुम्हें भी...”

दोनों युगल हंसते-मुस्कराते भेलपुरी के साथ-साथ टेडीबियर और चॉकलेट का दाम चुका कर आगे बढ़ गये। माधव आज बहुत खुश था, वो मन ही मन सोच रहा था। काश भैलेन्टाइन साल में दो-चार बार आता तो कितना अच्छा होता। बगल में चीनी के खिलौने, लाई का लड्डू, राम दाने की पट्टी, चिक्की और गजक बेचने वाले गोकुल का

खोमचा भी लगा हुआ था। गोकुल उस जोड़े के जाते ही माधव के खोमचों के पास सरक आया

“वाह माधव भैया! क्या तरकीब निकाले हो सामान का सामान भी बेच दिया और लोगों को पता भी नहीं चला।”

“तुम्हारी भाभी से वायदा किए हैं, उन्हें ताजमहल गिफ्ट करेंगे।”

“तुम भी न माधव भैया सुबह-सुबह भांग खाकर बैठे हो, हम गरीब दो जून की रोटी जुटा ले वही बहुत है। ताजमहल देखने की चीज है खरीदने की नहीं।”

माधव सोच में पड़ गया, सच ही तो कह रहा था वह... आज नुक्कड़ वाले रमेश से उस बिस्ते भर ताजमहल का दाम पूछा था, आठ सौ...आठ सौ का था। इतना महंगा...इतनी तो उसकी पाँच दिन की कमाई है। कहाँ से लाएगा वह... खरीद भी लिया तो गृहस्थी कैसे चलेगी। माधव इसी सोच-विचार में पड़ा था। देखते ही देखते उसके सारे गुच्छे और चॉकलेट भी बिक गए। रात घनेरी होने लगी थी, काली यमुना रात के साथ और भी काली लग रही थी। आज उसने शांति से जल्दी आने का वायदा किया था। बगल में गोकुल भी सामान समेट रहा था।

“आज की बिक्री कैसी रही गोकुल...?”

“आप का तो बढ़िया है, हमारा तो पूछिए मत। आजकल के जमाने में लड़के यह सब कहाँ खाते हैं।”

उसकी आवाज में दर्द था, पीढ़ियों से ये काम उसके पुरखे करते आ रहे थे। न जाने क्या सोचकर माधव ने गोकुल से कहा,

“गोकुल! मेरा एक काम करोगे।”

“हाँ-हाँ बोलो भैया...”

“मेरे लिए एक चीज बना दोगे। आज और अभी...”

माधव की आँखों में शरारत उभर आई। पता

नहीं माधव के दिमाग में क्या चल रहा था। रात हो आई थी, गोकुल और माधव ने अपना खोमचा समेटा और घर की ओर चल दिए। शांति दरवाजे पर ही माधव का इंतजार करती हुई मिल गई। उसकी सिगड़ी में लाल-लाल अंगार दहक रहे थे। उसी के बगल में पानी भरा हुआ लोटा भी रखा हुआ था। शांति दौड़कर लोटा ले आई, गरम-गरम पानी से हाथ-मुँह धोकर माधव एकदम तरोताजा हो गया। शांति ने रोज की तरह मुँह पोछने के लिए अपना आँचल माधव को थमा दिया,

“तुम बैठो अभी चाय चढ़ाती हूँ।”

माधव सिगड़ी के पास सरक आया और हाथ सेंकने लगा, सिगड़ी की वजह से झोपड़ी अब गर्म महसूस होने लगी थी।

“आज की बिक्री कैसी रही?”

भगोने से उठती भाप चूल्हे के धुँवे के साथ घुलमिल गई थी। मिट्टी लिपटे भगोने में चाय खदबदा रही थी और भगोना सिगड़ी की तेज आँच में काला पड़ गया था। शांति ने आँचल से भगोने को पकड़ चाय को गिलास में ढालते हुए कहा,

“बहुत बढ़िया... आज भैलेंटाइन डे था न... पिछले साल की तरह तो भीड़ नहीं थी पर रोज की तुलना में लोग आज ज्यादा आए थे।”

सिगड़ी की तेज आँच में शांति का गोरा रंग तम्बाई पड़ गया था, उसके इस सलोने रूप पर ही

तो माधव फिदा था। सब कहते थे उनकी जोड़ी एकदम राम-सिया जैसी है।

“जरा वो गमछा तो दे, देख तेरे लिए क्या लाया हूँ।”

“मेरे लिए...”

“हाँ-हाँ तेरे लिए आज भैलेंटाइन डे था न... प्रेमी-प्रेमिका का दिन।”

माधव ने शांति को धीरे से कोहनी मारी,

“धत्त...सठिया गये हो, बिल्कुल शर्म नहीं आती तुम्हें।”

“अपनी जोरू से कैसी शर्म...”

माधव ने बड़े अधिकार भाव से कहा। शांति की आँखों में चमक थी। उपहार किसी भी उम्र में मिले खुशी देता ही है। शांति ने जल्दी-जल्दी उस गमछे को खोला... सामने दूधिया सफेद ताजमहल चमक रहा था। गोकुल के सुघड़ हाथों ने चीनी का कितना सुंदर ताजमहल बनाया था।

“कहा था न तुझसे ...तेरे लिए ताजमहल बनवाऊँगा। कैसा लगा बता...”

माधव आज बहुत खुश था। यह ताजमहल उस संगमरमरी ताजमहल जैसा कीमती तो नहीं था पर खूबसूरत था। आज दूधिया चाँदनी रात में एक नहीं दो-दो ताज चमक रहे थे एक संगमरमर से बना ताजमहल और एक चीनी से बना, जो अपनी मिठास उनके रिश्तों में घोल रही थी।

मोबाइल न-9415479796

Email : ranjana1mzp@gmail.com

अंतिम बार

महेश केशरी

“बाबू, ई प्योर शीशम के लकड़ी हो। चमक नहीं देखत हो, और हल्का कितना हो, लईकन सब पचासों साल बैठी तबो कुछ ना होई सीताराम बड़ई की कही ये बातें जैसे लगती हैं कल की ही बात हो, लेकिन, इस बात को सुने अवधेश को सालों हो गये।”

अवधेश ने कमरे को एक बार फिर निहारा स करीने से सजे हुए बेंच और टेबल, जिस पर जगह-जगह धूल जम गई थी स सामने लगी ट्यूबलाइट उसको जैसे मुँह चिढ़ा रही थी स वो अपने अवचेतन में कहीं गहरा धँसता चला गया। आज से दस साल पहले जब उसने ये कोचिंग इंस्टीट्यूट शुरू किया था। ये सोचकर की जो तकलीफ उसे गाँव में उठानी पड़ी है। वो तकलीफ आसपास के लोगों को नहीं उठानी पड़े। वो, शिक्षक ही बनेगा। कितना अच्छा तो पेशा है। समाज में लोग कितना सम्मान देते हैं। सब लोग प्रणाम सर... प्रणाम सर कहते नहीं थकते, और उसे शुरू से किताबों से कितना लगाव रहा है। खुद भी पढ़ो और दूसरे लोगों को भी शिक्षित करो, लेकिन, इधर कोरोना के कारण पिछले एक-सवा साल से कोचिंग बंद था। सरकार सब कुछ खोलने की अनुमति देती है, लेकिन कोचिंग इंस्टीट्यूट पर जैसे उसे पाला मार जाता है। जिम, रेडिमेड, शॉपिंग मॉल, बस, ट्रेन, हवाई जहाज सब खुल गये हैं, लेकिन, सरकार को पढ़ाई से ही चिढ़ है स कोचिंग वाले टैक्स नहीं देते ना! इसलिए भी सरकार इन लोगों को कोचिंग इंस्टीट्यूट खोलने की अनुमति नहीं देती स अगर वो भी कोई जिम या शॉपिंग मॉल चलाता तो क्या सरकार उसको रोक लेती? नहीं बिल्कुल नहीं!

वो बहुत कोशिश करता रहा कि वो अपना कोचिंग इंस्टीट्यूट बंद ना करे, लेकिन, घर में छोट-छोटे बच्चे हैं स उनके खाने पीने के लाले पड़ गये हैं। पिताजी को डॉक्टर को दिखाना है। दिसंबर आधा गुजर गया है। माँ का स्वेटर भी लेना है। ठंड से काँपती रहती है स आखिर बूढ़ी काया में ताकत ही कितनी होती है।

स्वेटर जगह-जगह से फट गया है, और स्वेटर के कुछ हिस्से तो छीजकर आर-पार भी दिखने लगे हैं। कई दिनों से माँ कह रही है। घर के अंदर तो पहन सकती हूँ, लेकिन, बाहर निकलते मुझे शर्म आती है। आखिर, लोग क्या कहेंगे। एक शिक्षक की माँ फटा हुआ स्वेटर पहने हुए है! रमा ने भी कई बार शॉल के लिए तगादा कर दिया है कहती है आँगनबाड़ी जाते हुए ठंड लगती है। अब रमा को शॉल भी एक दो दिन में खरीदकर देता हूँ। आखिर रमा की आँगनबाड़ी वाली नौकरी ना होती तो आज वे लोग कहीं भीख माँग रहे होते। उसको मिलने वाले छह हजार रुपये से ही तो घर अब तक चल रहा है। नहीं तो इस आपदा काल में कौन किसकी मदद करता है? सबसे जरूरी काम है पिताजी को डॉक्टर को दिखाना, उनकी खाँसी रुकती ही नहीं। आखिर, कितने दिनों तक मेडिकल से लेकर सिरप पिलाई जाये। सारी कंपनियों के सिरप एक-एक करके देख लिए। जितने रुपये सिरप और गोलियों पर खर्च किये। उतने में तो किसी अच्छे डॉक्टर को दिखला देते, लेकिन, डॉक्टर भी पाँच सौ से कम में नहीं मानेगा कोरोना के समय में एक तो डॉक्टर सामने से देखते नहीं, ऑनलाइन दिखलाना है तो दिखलाओ नहीं तो जे राम जी की।

उसने बेंच को छुआ तो धूल के साथ-साथ जैसे उसके हाथ में अतीत के खुरचन भी आ गये, टीचर्स डे और वसंत पंचमी पर कितना सजाते थे छात्र इस इंस्टीट्यूट को कैसा लकदक करता था यही इंस्टीट्यूट छात्र-छात्राओं के हँसी ठहाकों से अवधेश को कमरे के एक-एक चीज से प्रेम था। उसने इंटीरियर डिजाइनर से अपने इंस्टीट्यूट को सजवाया था। गुलाबी पेंट, बढ़ियाँ कार्पेट, अच्छी कुर्सी और मेज, शानदार ब्लैकबोर्ड, टेबल के ऊपर सजे भाँति-भाँति के पेन । कैसे वो सफेद कमीज और काली पैंट पहन कर नियम से सुबह छह बजे ही नाश्ता-पानी करके चल देता था स फिर, देर रात गये ही घर लौटता। उसने नीचे ऊपर सब मिलाकर तीन-चार कमरे ले रखे थे। दो तीन और लड़कों को भी रख लिया था। पहले काम के घंटे बढ़ते गये। उसके अंदर एक जूनून सा छाने लगा। फिर, छात्रों की बढ़ती संख्या को देखकर उसने रूम बढ़ा दिये। फिर, टीचर भी बढ़ाने पड़े स मिला जुलाकर साठ सत्तर हजार रुपये महीने में वो कमा ही लेता था। फिर, धीरे-धीरे नई तकनीक आने से उसने कुछ कम्प्यूटर भी खरीद लिये और भी कई कमरे किराये पर ले लिये थे, और स्टाफ़ बढ़ाया स खूब मेहनत करने लगा। वो अपने साथ-साथ और लोगों को भी रोजगार दे सकता है। ये सोचकर ही उसका सीना गर्व से चौड़ा हो जाता था, और हमेशा उसे इस बात की खुशी रही। सब लोग हँसी खुशी से जी रहे थे। तभी कोरोना ने दस्तक दी और सबकुछ जहाँ का तहाँ जमकर रह गया। रोज सड़कों पर दौड़ने वाली उसकी स्कुटी घर में एक किनारे खड़ी हो गई। कभी-कभार कोई सामान लाने जाना होता तो, स्कुटी के भाग खुलते और वो रोड़ पर दौड़ती। नियमित आनेवाले टीचर्स अब दिखने बंद हो गये। पहले उसने औने-पौने दाम में कम्प्यूटर बेचे, शुरूआती दौर में तो तीन-चार महीने का लंबा लॉकडाउन लगा अचानक से आने वाले

पैसे आने बंद हो गये। खर्च ज्यों-का-त्यों, बहुत बचत करने की आदत शुरू से नहीं रही । पैसा आता था तो पता नहीं चलता था। कितना भी खर्च कर लो। कोई फर्क नहीं पड़ता था, लेकिन, अचानक से पैसे आने बंद होने से दिमाग जैसे सुन्न पड़ने लगा। जरूरी चीजों को तो नहीं टाला जा सकता था, लेकिन, गैर जरूरी चीजों पर सख्त पाबंदी लगा दी गई। चाऊमिन, पिज्जा, मोमोज़ सब बंद।

फिर, इंस्टीट्यूट के मकान मालिक का तगादा बढ़ने लगा। नीचे के अतिरिक्त लिए गये कमरे को गैर जरूरी समझकर छोड़ दिया गया। ये सोचकर कि पता नहीं कितना लंबा लॉकडाउन चलेगा, और हर महीने का किराया भी चढ़ता जायेगा। सारे-के सारे कम्प्यूटर पहले ही बिक चुके थे। कमरे वैसे भी खाली ही थे। सारे फर्नीचर को दो कमरों में समेटा गया, और कमरों की चाभी साल भर पहले ही मकान मालिक को सौंप दी गई। ये सोचकर कि आज नहीं तो कल जब सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा तो फिर, से कमरे को किराये पर ले लिया जायेगा। लेकिन, जब दूसरी लहर आयी और फिर, डेढ़ दो महीने का लॉकडाउन लगा, तो रमा जैसे बिफरती हुई बोली - “क्या, कोचिंग इंस्टीट्यूट के अलावा दूसरा कोई काम नहीं है? पेपर बेचो, सब्जी बेचो, फल बेचो कुछ भी करो लेकिन, अब घर की हालत मुझसे देखी नहीं जाती, और मेरी ऑगनबाड़ी की कमाई से कुछ होने जाने वाला नहीं है। वो ऊँट के मुँह में जीरा का फोरन जैसा साबित हो रहा है। तुम जल्दी कुछ करो स नहीं तो मैं बच्चों को लेकर अपने मायके चली जाऊँगी।” और यही सोचकर अवधेश ने ये फैसला किया था, कि अब और इंतजार करना मूर्खता के सिवाय कुछ नहीं है हो सकता है सालों कोरोना खत्म ना हो, तब तो सालों उसका इंस्टीट्यूट बंद रहेगा। रमा ठीक कहती है। मुझे अपना इंस्टीट्यूट बंद

करके कोई और काम करना चाहिए। नहीं तो घर कैसे चलेगा? और यही सोचकर उसने एक जरूरत मंद संस्था को बहुत कम कीमत पर अपना फर्नीचर बेचने का फैसला किया था।

भैया, ऑटो वाला आ गया है, सामान लेने, रघुवीर ने टोका तो अवधेश अतीत के नर्म बिस्तर से हकीकत की ठोस जमीन पर गिरा।

“हूँ... हाँ... कौन रघुवीर अच्छा ऑटो वाला आ गया चलो अच्छा है।”

अवधेश के भीतर कुछ पिघला, कार्पेट, दीवार, टेबल या छत या कि दस साल का सुहाना सफर और उसकी आँखें भीगनें लगीं। उसने आखिरी बार कमरे को गौर से निहारा। लगा जैसे सब कुछ छूटा जा रहा है, और वो किसी भी कीमत पर उसे नहीं छोड़ना चाहता।

रघुवीर ने पूछा - “क्या हुआ भईया..?”
लेकिन, अवधेश, रघुवीर की बातों का कोई जबाब नहीं दे सका।

बस भरपिये गले से बोला- “कुछ नहीं रघुवीर..।”

शाम का धुँधलका गहराने लगा था। उसे लगा कमरे को पलटकर अंतिम बार देख ले। लेकिन, उसकी हिम्मत नहीं पड़ी धीरे-धीरे नीम अंधेरे में वो सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

मेघदूत मार्केट फुसरो
बोकारो झारखंड
मो - 9031991875

ग्लोबल गाँव के 'दानव'

योगेश तिवारी

मनुष्य ने मानवता के विकास के लिए समय-समय पर नाना प्रयत्न किए हैं। यह विकास बाहरी और भीतरी दोनों ही है। दुनिया के विद्वानों ने मानव की इस विकास-यात्रा को अलग-अलग समय में समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। इस क्रम में कई विद्वानों का यह मानना है कि कुछ विकास किसी बड़े विध्वंस की नींव पर खड़े किये गये हैं। यानी, किसी एक का विकास किसी दूसरे की पीड़ा भी हो सकती है। मानव-विकास की इस विषम यात्रा में साहित्य का भी विस्तार होता चला गया है। हिंदी में भी साहित्य ने कई धाराओं का रूप ग्रहण किया है। इन्हीं धाराओं में से एक प्रमुख धारा है- आदिवासी साहित्य।

भारत जैसे 'विकासशील' देश में 'आर्थिक उदारीकरण' के आगमन ने इन देशों की पूरी संरचना ही बदल डाली। यह बदलाव एक दिन का नहीं था, वर्षों का था। पर इस बदलाव ने अब तक होते आए बदलावों की तुलना में बहुत कम समय लिया। इसलिए, एक तरफ जहाँ इसके फायदे हुए वहीं, दूसरी तरफ इसके नुकसान भी बहुत हुए। हाशिए के समाजों के हिस्से में अधिकतर नुकसान ही आया। उनसे उनकी अपनी स्वाभाविक पहचान छीन ली गयी या छीनने की कोशिश की गयी। इसलिए, हाशिए का कोई व्यक्ति हो या कोई देश, उसे अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ी। सत्ताधारी-शक्तिशाली व्यक्तियों-देशों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए हाशिए के व्यक्तियों-देशों की पहचान मिटाने की क्रूरता को दुनिया के विचारकों और साहित्यकारों ने अपने शब्दों में खूब जगह दी। इस अर्थ में अमेरिका के ख्यातिप्राप्त विद्वान नोम चोम्स्की और हिंदी के आदिवासी कथाकार रणेन्द्र एक ही पक्ष के पैरोकार माने जा सकते हैं।

रणेन्द्र का चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखण्ड के असुर आदिवासियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया हिन्दी उपन्यास है। कथाकार रणेन्द्र का यह उपन्यास सन् 2009 में प्रकाशित हुआ। आदिवासी विमर्श पर केन्द्रित इस उपन्यास ने साहित्य जगत में सबका ध्यान आकर्षित किया। इसमें लेखक ने जल, जंगल, जमीन से असुर जनजाति के सम्बन्ध को बारीकी से दिखाया है। नव उदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, सत्ता और धर्म द्वारा अपने ही जल, जंगल, जमीन और परिवेश से विस्थापित होने को अभिशप्त आदिवासियों की दशा को इस उपन्यास में रेखांकित किया गया है। असुर जाति की जीवन-व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करता हुआ यह उपन्यास वस्तुतः आदिवासियों के 'हजारों वर्षों' से चल रहे संघर्ष की साहित्यिक रिपोर्टिंग है।

नब्बे के दशक में देश में आर्थिक उदारीकरण के लागू होने से पूँजी को एक नया रूप मिला। मध्यवर्गीय आम जनता को इससे सीधा लाभ पहुँचा। दुनिया की कोई भी कम्पनी किसी भी देश में अपने व्यापार-विस्तार के लिए सक्षम हो गई। मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे लोगों के लिए रोजगार के नए अवसर उत्पन्न हुए। ये 'ग्लोबल' मजदूर किसी भी देश में जाकर काम कर सकते थे और कोई भी 'ग्लोबल' कम्पनी किसी भी स्थान के व्यक्ति को मजदूर बना सकती थी। इन्हीं बातों के मद्देनजर दुनिया को एक गाँव कहा जाने लगा। सूचना और तकनीकी क्रान्ति ने इस 'ग्लोबल गाँव' पद को पदार्थ रूप प्रदान किया। यही

वह समय था जब सोवियत संघ का विघटन हो गया और अमेरिका इस 'ग्लोबल' गाँव का सबसे बड़ा देवता बनकर उभरा।

नोम चोम्स्की का सीधा मानना है कि दूसरे महायुद्ध के बाद अमेरिका ने जितने भी युद्ध लड़े, वह सिर्फ अपने बाजार को मजबूत करने के ही उसके उद्यम थे। एक अमेरिकी नागरिक होते हुए भी उन्होंने अमेरिका की युद्ध और बाजार नीतियों का हमेशा ही विरोध किया। वह कहते हैं कि अमेरिका की नीतियों को अपने विचारों के केन्द्र में इसलिए रखा कि अमेरिका सैन्य और आर्थिक रूप से पूरे विश्व पर हावी रहा। उनकी स्थापना है कि अमेरिका की विदेश नीति दुनिया में 'मुक्त समाज'(open societies) को हमेशा बढ़ावा देती आयी। इसका कारण यह है कि ऐसे समाजों वाले देश परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अमेरिका के नियंत्रण में रहते हैं और वहाँ अमेरिकी कंपनियाँ अपना उद्योग स्थापित करने और माल बेचने में ज्यादा सफल होती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इस नई परिस्थिति में जिस देश के पास जितनी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ताकत थी, पूँजी का भण्डार था, अत्याधुनिक हथियारों से सम्पन्न क्रूरतम सेना थी, वह इस 'गाँव' का उतना बड़ा देवता बना। अमेरिका इन मानदण्डों पर सबसे खरा उतरा। द्वितीय विश्वयुद्ध में परमाणु प्रयोग से हुई उसकी शुरुआत सोवियत विघटन, ईराक, अफगानिस्तान प्रकरण...आदि द्वारा अपने चरम पर पहुँच गई। उसने दुनिया को दिखा दिया कि 'ग्लोबल गाँव' में उससे बड़ा 'देवता' कोई दूसरा नहीं। दुनिया ने उसके 'देवत्व' का लोहा माना और उसके सामने शीश झुकाया। यह 'ग्लोबल गाँव' की दुनिया थी। जाहिर है, जब देवता होंगे तो 'दानव' भी होने चाहिए। जिस किसी भी जाति, समूह, संस्था, देश ने 'ग्लोबल गाँव' के देवताओं के स्वार्थ में बाधा डाली वे सारे दानव घोषित कर दिए गए। धीरे-धीरे इन देवताओं की नजर जंगलों-पहाड़ों पर पड़ने लगी;

जहाँ की धरती कच्ची धातु, तेल, गैस, कोयला, साफ जल, पेड़-प्रकृति आदि से सम्पन्न और समृद्ध थी। इन देवताओं ने धरती की इस सम्पत्ति और समृद्धि को अपना बनाने के लिए वहाँ रहनेवाली मानव जातियों का 'संहार' करना शुरू कर दिया। ये जातियाँ आदिवासियों की थीं। इसलिए 'देवताओं' के लिए आदिवासी जातियाँ 'असुर' सिद्ध हुईं। शायद इसीलिए उपन्यासकार ने 'असुर' आदिवासी जाति को ही अपनी कथा के लिए चुना है। 'देवता' इस उपन्यास के नायक नहीं, खलनायक हैं; नायक तो 'असुर' हैं। यानी कि यह उपन्यास देवत्व की अवधारणा को नए सिरे से पारिभाषित करने की कोशिश करता है। इसीलिए इस उपन्यास का आरम्भ एक 'असुर मन्त्र' से होता है। इस उपन्यास के आरम्भ में महाकाव्य की प्रचलित रूढ़ि के अनुसार किसी 'देवता' की वन्दना नहीं की गई है, 'असुर' की वन्दना की गई है। यहाँ 'असुर' ही 'सुर' हैं और 'सुर' 'असुर'। इसके साथ ही आदिवासी विमर्श की मूल धारणाओं को ध्यान में रखते हुए यह उपन्यास 'आर्य सभ्यता' की जगह 'असुर सभ्यता' को तरजीह देता है। यही कारण है कि इसमें लोककथाओं और मिथकों की नई व्याख्या पेश की गई है।

मिथकों की पुनर्व्याख्या विमर्शों की एक प्रमुख विशेषता होती है। स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श पुराने मिथकों में नया अर्थ भरने की कोशिश करते हैं। कई बार यह कोशिश मिथकों की प्रचलित धारणा को पूरी तरह से दूसरी दिशा में ले जाती है। यानी किसी मिथक का नायक पुनर्व्याख्या के क्रम में खलनायक बनाया जा सकता है। आदिवासी विमर्श भी मिथकों और लोककथाओं की नई व्याख्या नए सन्दर्भ में करने की कोशिश करता है। इस व्याख्या या स्थापना के अनुसार आदिवासी यहाँ के 'मूल निवासी' हैं जिनको मुख्य-धारा के लोगों ने युद्ध में न हरा पाने के कारण, छल-कपट से मारकर, उनकी सम्पत्ति हड़पकर,

जंगल और पहाड़ों पर रहने को विवश कर दिया। इस विमर्श के अनुसार, 'ग्लोबलाइजेशन' के दौर में जब मुख्यधारा के लोगों को यह पता चला कि ये जंगल और पहाड़ प्राकृतिक सम्पदा के भण्डार हैं, तब वे आदिवासियों को वहाँ से भी खदेड़ना चाहते हैं। लेकिन, आदिवासी अब शिक्षित हैं। उन्होंने शिक्षा द्वारा अपने सुनहरे अतीत और समृद्धि को समझा है। साथ ही वे बाहरी लोगों यानी 'दिकू' की साजिशों को भी अब समझने में सक्षम हो चले हैं। अतः वे अपने लोगों को समझा रहे हैं। मिथकों और लोक कथाओं में नए अर्थ भर रहे हैं। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में ऐसे कई प्रसंग आए हैं, जहाँ मिथकों को नए रूप में पेश किया गया है। मिथकों की ये नई व्याख्याएँ कथावाचक 'मैं' को भी बंधी-बंधाई प्रचलित स्थापनाओं पर फिर से विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' का कथावाचक, 'मैं' आदिवासी नहीं है। बाहरी है। स्कूल की नौकरी की वजह से उसे असुर आदिवासी बहुल क्षेत्र में रहने को विवश होना पड़ता है। असुर नाम सुनते ही उसके मन में धारणा बनती है कि वे "खूब लम्बे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दाँत-वाँत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे।" जबकि वास्तविकता कुछ और है। 'असुर' आदिवासी भी सबकी तरह ही हैं। उनमें कोई विचित्रता नहीं है। कुछ दिनों तक वहाँ रहने पर कथावाचक उनसे घुलने-मिलने लगता है। उनकी समस्याओं को करीब से देखता-समझता है। इस क्रम में उसे पता चलता है कि असुर आदिवासी भी तीन तरह के हैं- "बीर असुर, अगरिया असुर और बिजरिया असुर।" इसके साथ ही कथावाचक को यह जानकारी भी मिलती है कि "ऋग्वेद के प्रारम्भ के लगभग डेढ़ सौ श्लोकों में असुर देवताओं के रूप में हैं। ... बाद में यह अर्थ बदलने लगता है और असुर दानव के रूप में पुकारे जाने लगते हैं।" इसका कारण यह है कि सारा

इतिहास और मिथक तथाकथित 'देवताओं' यानी विजेताओं ने लिखा या गढ़ा है। देवता कहे जाने वाले लोगों ने युद्ध में छल-कपट से आदिवासियों को हराया। इस युद्ध को मानवता के लिए आवश्यक बताया। उन्होंने कहा कि अगर 'असुरों' को मारा नहीं गया तो मानवता खतरे में पड़ सकती है। ठीक से देखने पर पता चलता है कि आज के समय में पूँजीवादी बड़े देश भी यही कर रहे हैं। मानवता की रखवाली के नाम पर वे कभी किसी गरीब देश को मारते हैं तो कभी किसी प्राकृतिक सम्पदा सम्पन्न देश को। वे अपने प्रत्येक युद्ध को 'जस्टीफाई' करते हैं। लेखक ने इस उपन्यास में यही दिखाने की कोशिश की है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने द्वारा संचालित युद्ध को किस तरह विकास के लिए आवश्यक बता कर 'जस्टीफाई' कर रही हैं। इस युद्ध के विरुद्ध आवाज उठानेवालों को नक्सली, देशद्रोही या आतंकवादी घोषित किया जा रहा है। उन्हें मृत्यु का दण्ड या अज्ञातवास का अभिशाप झेलने को बाध्य किया जा रहा है।

उपन्यास में एक आदिवासी कथा का जिक्र है, जिसके अनुसार लोहा पिघलाने वाले असुर स्वच्छन्द और अत्याचारी हो गए थे। उन्होंने सिंगबोंगा (सूर्य देवता) की बार-बार की गई विनती नहीं मानी और उनके दूतों को मारते गए। "अन्त में अहंकारी दुष्टों को सजा देने स्वयं भगवान सिंगबोंगा ने चर्म रोग वाले लड़के का भेष बदला। लुकुटुम बूढ़ा और लुकुटुम बुढ़िया के यहाँ धाँगर नौकर बनकर रहने लगे। रहते-रहते चालाकी से लालची असुरों को सोने-चाँदी के लालच में उन्हीं की भट्टी में जलाकर मार डाला।" पढ़ा-लिखा समझदार असुर आदिवासी रुमझुम इसकी व्याख्या यों करता है कि "हमारी जाति-विनाश की एक झलक-मात्र है इस कहानी में।... हजार सालों में कितने इन्द्रों, कितने पाण्डवों, कितने सिंगबोंगा ने कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने

गड़ ध्वस्त किए, उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है।” केवल लोककथाओं और मिथक में आदिवासी जिन्दा हैं। इन लोककथाओं और मिथकों को भी विजेता जाति ने अपने गुणगान के लिए ही इस्तेमाल किया है। पर अब समय बदल रहा है। आदिवासी अपने अधिकारों को पहचानने लगे हैं, उनके लिए लड़ने लगे हैं। वे यह प्रश्न बार-बार पूछने लगे हैं कि “आग की खोज, धातुओं की खोज, धातु पिघलाने की कला किसी को इतनी बुरी क्यों लगी कि इस कारीगर जाति को बार-बार आक्रमणों में नष्ट होने और पीछे हटने के लिए मजबूर होना पड़ा।” बात यहाँ किसी के ‘बुरी लगने’ की नहीं है, बल्कि दो जातियों के बीच हुए युद्ध में जय और पराजय की है।

इतिहासकारों के बीच यह मान्यता बहुत प्रचलित है कि दो जातियों के संघर्ष में विजेता जाति हमेशा खुद को ‘देवता’ और पराजित जाति को ‘दानव’ के रूप में चित्रित करने की कोशिश करता है। दरअसल सत्ता हमेशा विजेता जाति के पास होती है। इसलिए वह जाति इतिहास को अपनी तरह से न सिर्फ गढ़ती है, बल्कि उसका प्रचार-प्रसार और संरक्षण भी करती है। यह इतिहास का प्रचलित रूप होता है। इतिहास का एक रूप लोक के बीच बीज रूप में सुरक्षित रहता है जो समय आने पर अंकुरित होता है। यह रूप प्रचलित इतिहास से भिन्न होता है। कई बार यह प्रचलित इतिहास का प्रतिलोम भी हो सकता है। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो प्रचलित इतिहास का ‘विष’ अपने दूसरे रूप में ‘अन्न’ भी हो सकता है। ठीक से देखा जाए तो हाशिए पर रहने वाली जाति पर यही बात लागू होती है। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास भी हाशिए द्वारा केन्द्र को चुनौती देने की कोशिश को दर्शाता है। यह चुनौती हाशिए में भी हाशिए पर कर दी गई स्त्री के द्वारा और अधिक मुखरता से दी जा रही है।

अकादमिक समाज में आम धारणा यह है कि आदिवासी स्त्रियाँ शेष समाज की स्त्रियों की तुलना में अधिक स्वतन्त्र, मजबूत और आत्म-निर्भर हैं। यह धारणा पूरी तरह गलत नहीं है, लेकिन पूरी तरह सही भी नहीं है। समय के कुचक्र ने आदिवासी स्त्रियों को भी अपना शिकार बनाया है। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास आदिवासी स्त्री के इन अलग-अलग छवियों को एक साथ पेश करता है। मुख्यधारा के लोग आदिवासी स्त्रियों का किस तरह ‘शिकार’ करते हैं, उपन्यास में इसका मार्मिक वर्णन मिलता है। उपन्यास के आदिवासी लड़कों का एक गीत है-

काठी बेचे गेले असुरिन,
बाँस बेचे गेले गे,
मेठ संगे नजर मिलयले,
मुंशी संग लासा लगयले गे,
कचिया लोभे कुला डुबाले,
रुपया लोभे जात डुबाले गे।

(लकड़ी और बाँस बेचने गई असुर लड़की, तुमने खदान में काम करनेवाले मेठ के साथ नजर क्यों मिलाई? खदान के मुंशी के साथ लगाव क्यों बढ़ाया? पैसे के लोभ में कुल का और रुपये के लोभ में जाति का नाम क्यों डुबाया?) ऐसा लगता है, यह गीत आदिवासी असुर लड़कियों से सवाल नहीं पूछ रहा, बल्कि उन्हें आगाह कर रहा है कि खदान में काम करने वाले बाहरी लोगों से सावधान रहना। वे धन और साधन को चारा बनाकर छल से तुम्हारा शिकार करना चाहते हैं। कथावाचक के अनुसार, “पाट के दो दर्जन से ज्यादा खदानों के मेठ-मुंशी सब बाहरवाले थे। किसी ने परिवार नहीं रखा था। सबको डेरा में काम करने के लिए असुर लड़कियाँ ही चाहिए थीं। क्यों चाहिए यह बताने की जरूरत थोड़े है!” ऐसा नहीं है कि इस स्थिति से आदिवासी लड़की अवगत नहीं है। वे बाहरी लोगों के इस षड्यन्त्र को खूब समझती हैं। फिर भी उन्हें अपनी

जीविका के लिए इन बाहरी लोगों का सामना करना पड़ता है। विनोद कुमार शुक्ल के अनुसार, “एक अकेली आदिवासी लड़की को/ घने जंगल जाते हुए डर नहीं लगता/ बाघ-शेर से डर नहीं लगता/ पर महुआ लेकर गीदम के बाजार जाने से/ डर लगता है।” रणेन्द्र के ‘ग्लोबल गाँव’ की आदिवासी असुर स्त्रियाँ बहुत कुछ विनोद कुमार शुक्ल की कविता में आयी इस लड़की की तरह ही हैं।

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास में स्त्री मुख्यतः तीन रूपों में आई है। पहला रूप घरेलू स्त्रियों की है, दूसरे में कम पढ़ी-लिखी कामकाजी स्त्रियाँ हैं, तीसरे में शिक्षित स्त्रियों को रखा जा सकता है। घरेलू स्त्रियों के रूप में लालचन की पत्नी को देखा जा सकता है। इस श्रेणी की स्त्रियों की उपन्यास की कथा में सीधे-सीधे भागीदारी नहीं है। ये घर में रहकर कामकाज करनेवाली हैं। अकुण्ठ हैं। जिन्दादिल हैं। बाहर निकल कर कामकाज करनेवाली कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों में बुधनी और एतवारी को देखा जा सकता है।

बुधनी चाय-नाश्ते का छोटा-सा दुकान चलाती है। वह कुछ वर्षों तक असम में रह चुकी है। उसे देश-दुनिया की अच्छी समझ है। वह आदिवासियों की लड़ाई में उनके साथ है। अपनी दुकान में एक छोटा सा ‘केबिन’ वह आदिवासी कार्यकर्ताओं के लिए सुरक्षित रखती है। जरूरत पड़ने पर वह खदान कम्पनियों और मालिकों के खिलाफ आन्दोलन में भाग भी लेती है। वह विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले आदिवासियों, आदिवासियों से सहानुभूति रखनेवाले लोगों और आन्दोलनकारियों के बीच सेतु का काम भी करती है।

एतवारी उस स्कूल की पीयून है जिसमें कथावाचक पढ़ता है। उपन्यास के शुरू में उसका चरित्र एक साधारण घरेलू स्त्री का ही दिखाया गया है। लेकिन उपन्यास के अन्त में वह खदान मालिकों और सत्ता के खिलाफ आन्दोलन में अपनी

जान देकर और कथावाचक की जान बचाकर अपने कद को बहुत ऊँचा उठा जाती है।

शिक्षित स्त्रियों में सबसे प्रमुख ललिता है। वह गाँव के सबसे रसूखदार आदिवासी असुर लालचन की भतीजी है। वह इतिहास की मेधावी छात्रा है और साथ ही अपनी जनजाति और उससे जुड़े मिथकों की भी गहरी जानकारी रखती है। आदिवासियों के खिलाफ चल रहे सत्ता, पूँजी और धर्म के गँठजोड़ को वह खूब अच्छे से समझती है। पुरुष नेतृत्व के कमजोर पड़ जाने पर वह आन्दोलन का संचालन करती है। आदिवासी स्त्री को लेकर ललिता की अपनी अलग समझ भी है। उसका मानना है कि “मर्द और खासकर असुर मर्द किसी के भी झाँसे में आसानी से आ जाया करते हैं। कोई भी आसानी से उन्हें बेवकूफ बना लेता है।” वह सिंगबोंगा की कथा की नई व्याख्या भी करती है। वह कहती है, “सिंगबोंगा ने खसरा लड़का का रूप धरकर असुरों को न केवल मूर्ख बनाया बल्कि भट्टी में बन्द कर उन्हें जला दिया। निश्चित तौर पर भट्टी में जलाया जाना हू-ब-हू नहीं घटा होगा। लड़ाई में धोखे से असुरों को खत्म किया गया होगा।... लेकिन धोखा असुर पुरुषों ने खाया, स्त्रियों ने नहीं।” इसीलिए उस कहानी में असुर स्त्रियाँ समझदारी दिखाती, विरोध दर्ज करती दिखती हैं। इस विरोध की सजा भी उन्हें मिलती है, लेकिन वे सचेत हैं। उनकी समझ पुरुषों की तुलना में अधिक तर्कसंगत है। वे भावुकता पर बुद्धिमत्ता को तरजीह देती हैं। फिर भी पूँजी, सत्ता और धर्म के गँठजोड़ द्वारा निर्मित शिकंजे में खुद को फंसा हुआ पाती हैं। दूसरी तरफ वे यह समझ सकी हैं कि उनकी मुक्ति पूँजी, सत्ता और धर्म के गँठजोड़ के विरुद्ध लड़कर ही हो सकती है।

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ में आदिवासी स्त्रियों को शहर में बेचे जाने, उनका शारीरिक शोषण किए जाने की कई घटनाओं का जिक्र भी रणेन्द्र ने

किया है। शोषण का शिकार सिर्फ कम पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ ही नहीं; पढ़ी-लिखी कामकाजी स्त्रियाँ भी हैं। यहाँ तक कि कथावाचक, जिसको उपन्यास में समझदार, असुरों का हितैषी, संवेदनशील दिखाया गया है, वह भी दो बच्चों की माँ एतवारी से नाजायज सम्बन्ध रखता है। एतवारी का यह शारीरिक शोषण ही है क्योंकि बाद में कथावाचक ललिता की तरफ आकर्षित होकर एतवारी से छुटकारा पाना चाहता है। यहाँ मामला 'यूज एण्ड थ्रो' का है। हालाँकि उपन्यासकार ने इस सम्बन्ध को 'जस्टिफाई' करने की कोशिश की है, लेकिन उसकी यह कोशिश सफल नहीं होती। अतः उपन्यासकार यह बात पाठक के मन में डाल देता है कि जो भी बाहरी है, वह आदिवासियों के शोषण में जाने-अनजाने शामिल है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' की सफलता इस बात में है कि वह 'ग्लोबल गाँव' के देवताओं की ताकत का सही परिचय कराता है। उनके इरादों से पाठकों को रू-ब-रू करवाता है। वह बताता है कि हर कोई इन 'ग्लोबल देवताओं' के आगे नतमस्तक होने या उनके द्वारा मार दिए जाने को अभिशप्त है। सरकार की प्रत्येक संस्था उसके साथ खड़ी है। उसके विरोध में वही खड़ा है जिसे अब भी सभ्यता पर विश्वास है। प्रकृति पर विश्वास है। जीवन आस्था और मूल्यों पर विश्वास है। इन मूल्यों और विश्वासों के सबसे करीब वही है जो विकास के दूषित जीवन से सबसे दूर है। ऐसे लोगों में आदिवासी सबसे आगे हैं।

कई विरोधाभासों को समेटे हुए 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास अपने छोटे-से आकार में अपने समय का विघाट सच समेटने की कोशिश करता है। वस्तुतः यह उपन्यास 'ग्लोबल गाँव' के हाशिए की कहानी है। पूँजी को नियन्त्रित करनेवाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और देश इस 'ग्लोबल गाँव' के देवता हैं। 'ग्लोबल गाँव' के इन देवताओं की

ताकत वैदिक देवताओं से भी अधिक है। जिन पुराने देवताओं से असुर सदियों लड़ते-झगड़ते रह कर भी, हार जाने के बावजूद, उठ-उठकर खड़े होते रहे, वे इन नए देवताओं के सामने टिक नहीं पाते। इसका कारण उपन्यासकार नहीं समझ पाता और न ही पाठक को समझा पाता है। दरअसल विमर्श के बहाव में उपन्यासकार इतनी तेजी से बहता चला गया है कि उसे 'सभ्यता' और 'विकास' का फर्क ही समझ नहीं आता। वह दोनों को एक ही मानता चलता है। इसलिए वह पुरानी सभ्यता के 'देवता' और नए विकास के 'ग्लोबल गाँव' के देवता में फर्क नहीं कर पाता। सभ्यता के केन्द्र में सम्पूर्ण मानवता थी। मनुष्यता थी। विकास व्यक्ति या संस्था केन्द्रित होता है। ऐसा व्यक्ति या संस्था जिसने अपने अधिकार में पूँजी, सत्ता और सैन्य शक्ति का भण्डार रखा हो। सभ्यता ने मनुष्य को संवेदनशील बनाने का काम किया था। विकास ने मनुष्य को एक स्वार्थी जीव में बदल दिया।

सभ्यता के 'देवता' का उद्देश्य अपनी संस्कृति को स्थापित करना था। उसका प्रचार-प्रसार करना था। इसलिए समय के साथ उसने उनको भी अपनाया जिनसे कि कभी वह युद्ध कर चुका था। दूसरी ओर 'ग्लोबल गाँव के देवता' का उद्देश्य ही है सारे साधन और सुविधा को स्व-केन्द्रित करना। इसके लिए वह न सिर्फ पुरानी सभ्यताओं को नष्ट कर रहा है, बल्कि मानवता को भी खत्म करने की कोशिश कर रहा है। इसलिए इन 'ग्लोबलाइज' देवताओं से खतरा न केवल जंगलवासियों को है, अपितु कालान्तर में दुनिया के हर उस नागरिक को है, जो जल, जंगल, जमीन एवं अपने श्रम पर आश्रित है। जबकि उपन्यासकार की मानें तो जो आदिवासी नहीं है, वह आदिवासियों का दुश्मन है। साथ ही हजारों वर्षों के भारतीय मिथकों को आधार बनाकर, उनकी नई व्याख्या करके वह पुराने पौराणिक या मिथकीय देवताओं को आज के

‘ग्लोबल देवताओं’ की पुरानी कड़ी ठहरा देता है। इस तरह वह ‘ग्लोबल देवताओं’ के खिलाफ लड़ रहे बहुसंख्य जनता को आदिवासियों से जोड़ने की जगह उन्हें भी आदिवासियों का शत्रु ठहरा देता है। यह ठीक नहीं है।

सभ्यता के विकास के क्रम में भिन्न जातियों के बीच संघर्ष हमारे यहाँ भी हुए। इन संघर्षों में कुछ जातियाँ जयी रहीं तो कुछ पराजित हुईं। जयी जाति ने पराजित जाति को खत्म करने का संकल्प नहीं किया जैसा कि पश्चिम में हुआ। इसलिए पराजित जाति ने नई जगह पर अपने लिए नई दुनिया बनाई-बसाई। यह दुनिया मुख्य धारा की जाति या कि जयी जाति की सीमा से बाहर थी। साथ ही जयी जाति को इस दुनिया का पता भी था। पर दोनों ही जातियों में यह मूक सहमति बनी कि कोई किसी की दुनियाँ में अशान्ति नहीं फैलाएगा। बाद में इस तरह की दो जातियों में कई तरह के सामाजिक सम्बन्ध भी पनपे। दोनों की संस्कृतियों में कई समानताएँ भी देखने को मिली। उदाहरण के लिए प्रकृति से सम्बन्ध को देखा जा सकता है। भारत की शायद ही कोई जाति होगी जिसका प्रकृति से गहरा सम्बन्ध न रहा हो। जहाँ “यूरोप में पर्यावरण का प्रश्न मनुष्य और भूगोल के बीच सन्तुलन बनाए रखने का है भारत में यही प्रश्न मनुष्य और उसकी संस्कृति के बीच पारम्परिक सम्बन्ध बनाए रखने का हो जाता है।” यूरोप और भारत के इस पर्यावरण सम्बन्ध को समझना बहुत जरूरी है। अधिकतर विमर्शकार अति उत्साह में इस बात को भूल जाते हैं या शायद ठीक से समझ ही नहीं पाते। इसलिए उन्हें लगता है कि प्रकृति से लगाव सिर्फ आदिवासियों को ही है। यह अवश्य है कि आदिवासियों के जीवन का बड़ा हिस्सा प्रकृति पर निर्भर रहा है। इसलिए शेष आबादी की तुलना में यूरोपीय विकास के ‘मॉडल’ ने उनको क्षति भी अधिक पहुँचाई है।

नीतियाँ विकसित देशों के लिए गरीब देशों से सस्ता श्रम, कच्चा माल और अपने लिए विनिवेश के नए अवसर तलाशने के साधन मात्र हैं। इसका मतलब यह हुआ कि बड़ी कंपनियाँ गरीब या विकासशील देशों को परोक्ष रूप से अपने नियंत्रण में रखने की कोशिश करती हैं जिससे कि उनका अधिक से अधिक मुनाफा हो सके।

दरअसल, ‘ग्लोबल गाँव’ के देवताओं के विकास के रथ के भारी-भरकम पहिए के नीचे प्रत्येक सभ्य जाति कुचली जा रही है। जो जाति इस पहिए से अपने को बचाने में सफल हो रही है उसे ये देवता अपना गुलाम बना रहे हैं। ऐसे में ‘ग्लोबल गाँव’ के इन स्व-घोषित देवताओं का मुकाबला तभी सम्भव हो सकेगा जब मानवता, सभ्यता और पर्यावरण के बीच जीने वाली जातियाँ अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर संगठित रूप से इनका सामना करेंगी। इनके ‘देवत्व’ के आवरण को उतार कर इनके ‘दानवत्व’ को दुनिया के सामने लाने में सफल हो सकेंगी।

यह तभी सम्भव हो सकेगा जब विमर्शकार इस बात की पड़ताल करेंगे कि असुर पौराणिक देवों से हारकर भी (अगर ऐसा है तो!) अपना अस्तित्व बनाए रहने में सफल क्यों रहे थे और आज उन्हें अपने आपको ‘ग्लोबल देवताओं’ से बचा पाना नामुमकिन क्यों होता जा रहा है?

सन्दर्भ पुस्तकें :-

1. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2009.
2. सब कुछ होना बचा रहेगा, विनोद कुमार शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1992.
3. धुन्ध से उठती धुन, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2007.
4. संवाद-परिसंवाद, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013.

स्त्री मन की तस्वीर

तीन निगाहों की एक तस्वीर

डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय

‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ मन्नू भंडारी की कुछ अच्छी कहानियों में से एक है। यह कहानी एक स्त्री की आंतरिक पीड़ा को प्रस्तुत करती है। मन्नू जी का यह कहानी संग्रह सन् 1956 में प्रकाशित हुआ था। 1956 में मन्नू भंडारी अपने समकालीन कहानीकारों से अलग हटकर स्त्री मन की व्यथा प्रस्तुत कर रही थीं। वह स्त्री के उस मन को पढ़ने की कोशिश कर रही थीं, जिसे उनके समकालीनों ने लगभग अछूता ही छोड़ दिया था या अधिक-से-अधिक उसे परिवार के दायरे में सीमित करके छोड़ दिया था। उसकी भावनाओं को, उसकी इच्छाओं को महत्व देना जरूरी नहीं समझा था।

सबसे पहले तो यह कहानी मन में यह कौतूहल जगाती है कि आखिर ‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ है क्या? वे तीन निगाहें किसकी हैं? वह तस्वीर किसकी है? तस्वीर नैना की मासी दर्शना की है, जिसे लोग अपने-अपने नजरिए से देखते हैं। सारा खेल आँखों का है, आप जैसा देखना चाहते हैं आपकी आँखें वैसा ही देखती हैं। सुंदरता देखने वाले की आँखों में होती है, व्यक्ति में नहीं। दर्शना को भी लोग अपनी-अपनी नजरों से देखते हैं। नैना की माँ की नजर में वह एक ‘छिन्नाल’ औरत है। वह घर के सभी लोगों के लिए घृणा की पात्र है। उसका नाम लेना भी घर में वर्जित है। यहाँ तक की उसकी तस्वीर भी घर से बाहर फेंक दी गई है। कहानी से गुजरते हुए मन में यह प्रश्न उठता है कि आखिर वह घृणा की पात्र क्यों बनी? उसकी अपनी ही बहन उसे ‘छिन्नाल’ क्यों कहती है? वह अपनी माँ और भाई के लिए क्यों मर चुकी है? आखिर उसका जुर्म क्या है? जबकि नैना की नजर में दर्शना एक सीधी-सादी, भोली-भाली युवती है। उसे यह समझ में नहीं आता कि आखिर वह ‘छिन्नाल’ कैसे बनी? इस सत्य को जानने के लिए वह हमेशा बेचैन रहती है और उसकी यही बेचैनी उसे दर्शना के पास ले आती है।

कहानी की शुरुआत नैना और दर्शना के मिलन से होती है। लेकिन इस मिलन से न तो दर्शना खुश है और न ही नैना। दोनों एक-दूसरे को पहचान नहीं पाती हैं। जिस तस्वीर को लेकर नैना दर्शना से मिलने पहुँची थी, उसके मन में जिस मासी की तस्वीर अंकित थी, दर्शना को मृत्यु शय्या पर पड़े देखकर वह तस्वीर खंडित हो जाती है। उसे यह समझ में नहीं आता कि शर्मिली मासी की यह हालत कैसे हो गई। न आँखों में चमक है और न ही शरीर में जान। उधर दर्शना की स्थिति यह हो चली है कि वह उसे पहचान तक नहीं पाती। वह आँसू भरी आँखों से कहती है, “मैं जानती थी, जीजी कभी नैना को मेरे पास नहीं

भेजेंगी। भेज देतीं, तो एक बार उसे प्यार करके मन की निकाल लेती। नैना की जगह यह न जाने किसे भेज दिया है! अंत समय में मुझे यों न छलतीं तो उनका क्या बिगड़ जाता?” दर्शना का अंत समय आ चुका है। वह पहचानने की शक्ति खो चुकी है। उसे लगता है कि यह नैना नहीं है। कभी-कभी यह भी लगता है कि दर्शना नैना को पहचान गई थी लेकिन वह नहीं चाहती थी कि नैना उसके पास आए। उस बीमार के पास बैठे। मृत-प्रायः व्यक्ति से मिलकर अब होगा ही क्या? वह अपने मन को कठोर करके नैना को अपने पास नहीं आने देती। मुँह फेर लेती है।

यह सत्य है, व्यक्ति अपने मन के अनुरूप ही चीजों को देखता है। नैना के मन में यह बात बैठा दी गई है कि उसकी मासी एक बदचलन औरत है। लिहाजा जब वह उसे खोजती हुई उसके घर पहुँचती है, उसे वहाँ का परिवेश भी बदचलन ही लगता है। गली की नीरवता और अंधकार उसके मन को भयभीत कर देते हैं। बुढ़िया के पान खाये हुए होंठ उसे आक्रांत कर देते हैं। दीवारों पर पान की पीक के दाग उसके मन को विचलित कर देते हैं। वह अपने मन को लाख समझाती है, लेकिन उसे रह-रहकर यह लगता है कि हो न हो यह जगह अच्छी नहीं है। रात में भी सोते समय उसे आशंका है कि यहाँ कोई आयेगा तो नहीं। क्या सचमुच यहाँ रात में लोग आते-जाते हैं? उसके कान हर एक आहट के लिए सतर्क रहते हैं और नजरें हमेशा कुछ ढूँढ़ती रहती हैं। वह ऐसी तमाम शंकाओं से घिरी हुई है। अपने मन की आशंका को व्यक्त करती हुई नैना कहती है, “मैंने अपनी सतर्क नजरों से इधर-उधर देखना शुरू किया। एकाएक ही कोने में रखे सितार, तानपूरे और तबले में मेरी दृष्टि उलझ गई। ये चीजें कभी देखी न हों, सो बात नहीं, पर यहाँ देखकर मेरे रोएँ खड़े हो गए। जबर्दस्ती दबाई हुई मन की आशंका पूरे वेग से

उभर आई। देखते-ही-देखते कमरे के कोने में रखे वे वाद्य-यंत्र झनझना उठे, तबला ठनकने लगा, घुँघरू झनकने लगे और कहकहों की गूँज से कमरा भर गया। मुझे लगा, मेरा सिर चकरा जाएगा।” इन कहकहों के बीच उसे माँ के ‘छिन्नाल’ शब्द सुनाई देने लगे।

नैना की मासी दर्शना की जब शादी हुई थी तब नैना मात्र छह साल की थी। नैना और उसके घरवाले दर्शना की शादी में शामिल नहीं हो पाये थे, वजह नैना की तबीयत बहुत खराब हो गई थी। नैना ने अंतिम बार अपनी मासी को मात्र चार साल की उम्र में देखा था। हाँ, उसकी तस्वीर उसके घर में जरूर थी, जो बाद में फेंक दी गई। यदि यह कहा जाये कि नैना का प्रेम नहीं, बल्कि उसकी जिद उसे दर्शना तक ले आती है तो कुछ गलत न होगा। क्योंकि चार साल की बच्ची का प्रेम किसी के प्रति बने रह जाना चकित करने वाली बात है। नैना का मन किसी भी तरह से इस बात को स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि उसकी मासी एक बदचलन औरत है। वह खुद इस सच्चाई का पता लगाना चाहती थी। इसीलिए माँ के लाख समझाने के बाद भी वह उससे मिलने आती है।

‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ कहानी में हरीश नाम के एक नवयुवक का जिक्र है। सिर्फ जिक्र भर के लिए जिक्र नहीं है, बल्कि वह दर्शना के जीवन को पूरी तरह से बदलकर रख देता है। दर्शना की जब से शादी हुई थी तब से उसके पति बीमार ही रहते थे। परिवार का खर्च चलाने के लिए उसे हरीश को पेइंग गेस्ट रखना पड़ा था। हरीश पेशे से एक कहानीकार है। वह अपनी कलम से दर्शना को हलाल करता है।

धीरे-धीरे दर्शना हरीश के प्रति आकर्षित होने लगती है। जीवन का अकेलापन और पति की बीमारी ने उसे बहुत तोड़ दिया था। परिवार वाले

भी लगभग उससे नाता तोड़ चुके थे, सिर्फ चिड़ी-पत्री तक ही संवाद रह गया था। बीमार पति को छोड़ वह कहीं आ जा नहीं सकती थी और उससे कोई मिलने भी नहीं आता था। कारण, उसकी पति की बीमारी थी, जिससे लोग डरते थे। खैर, दर्शना हरीश से थोड़ी हँस-बोल लेती थी। हरीश के सीने के घने काले बाल उसे अच्छे लगते थे। उसे यह पसंद नहीं था कि हरीश की कोई महिला मित्र उससे मिलने आए। डायरी में वह लिखती है, “हरीश के पास वह लड़की आती है तो जाने क्यों मुझे जरा नहीं सुहाती।” एक दिन दर्शना का पति उसे हरीश के कमरे से निकलते हुए देख लेता है और इस बात को अपने सारे नाते-रिश्तेदारों को बता देता है। इसके बाद दर्शना सबके लिए मर जाती है। वह कलंकनी और न जाने क्या-क्या हो जाती है। नैना की माँ अपनी सगी बहन के लिए ‘छिन्नाल’ शब्द का प्रयोग करती है।

कहानी में हरीश द्वारा लिखी एक और कहानी है, जो उसकी और दर्शना की प्रेम कहानी को बताती है। यही वह कुंजी है, जिससे बहुत कुछ खुल जाता है। इसके अलावा दर्शना के डायरी के कुछ नोट्स हैं, इसमें से कुछ नोट्स सांकेतिक भाषा में लिखे गए हैं। इसमें कोई शक नहीं कि दर्शना अपने पति को पूर्ण स्वस्थ देखना चाहती है। वह उससे भरपूर प्रेम करती है। लेकिन इन सबके बावजूद यह भी एक सच्चाई है कि शरीर की भी कुछ जरूरतें होती हैं। इसी जरूरत की खातिर दर्शना हरीश की ओर आकृष्ट होती है। ऐसा भी नहीं है कि दर्शना को सिर्फ एक पुरुष चाहिए, यदि ऐसा होता तो वह अपने जवान नौकर को कमीज खोलकर रहने के लिए बुरी तरह से नहीं डाँटती। उसे जिस प्रेम की, सहानुभूति की जरूरत थी वह उसे हरीश में दिखा। संभवतः इसीलिए वह हरीश की ओर आकर्षित होती है। पुरुष से ज्यादा उसे एक साथी की, मित्र की जरूरत थी, जिसके सीने

पर सर रखकर वह जी भर रो सके। अपने दिल की बात कह सके। अपना दुःख बाँट सके। और दर्शना यही कर रही थी। लेकिन उसके बीमार पति को यह भी मंजूर नहीं था, वह नहीं चाहता था कि दर्शना किसी के साथ हँसे-बोले। दर्शना की थोड़ी-सी खुशी को वह गलत नजर से देखता है। नापाक निगाह से पाक चीज को नापाक कर देता है।

अब डायरी के उन कुछ सांकेतिक नोट्स को देखते हैं, जिससे दर्शना के मन का भाव पढ़ा जा सकता है। दर्शना अपने सपने को लिखती है, “छोटी-छोटी पहाड़ियों की चोटियों से जल के झरने-झर रहे हैं पर फिर भी आस-पास कहीं हरियाली नहीं, रेगिस्तान-ही-रेगिस्तान है। कोई उस जल को पीनेवाला नहीं, कोई फल-फूल उस जल से खिलनेवाला नहीं। विचित्र संयोग था, जल के किनारे निर्जन रेगिस्तान! जल की इससे बढ़कर और क्या निरर्थकता हो सकती है?” यह सपना बहुत कुछ कहता है। जल जो है वह दर्शना है, उसका यौवन है। लेकिन दुर्भाग्य यह कि उस जल को पीनेवाला, उस यौवन का पान करने वाला कोई नहीं है। उसका जीवन रेगिस्तान बना हुआ है। भला उसके जीवन की इससे बढ़कर और क्या निरर्थकता हो सकती है! उसके आस-पास एकदम निर्जन रेगिस्तान है। चाहकर भी वह उस रेगिस्तान में हरियाली नहीं ला पाती। कहानी की यह पंक्ति इस बात की ओर संकेत करती है कि दर्शना शादी के बाद एक दिन भी अपने पति का सुख नहीं भोग पाई थी। वह लिखती है- “आज उन्होंने मुझे मारा। शादी के बाद आज पहली बार मैंने जाना कि इनके शरीर में अब भी इतना जोर है। इनकी बीमार लातों ने भी मेरी कमर तोड़ दी तो जब ये टाँगें पुष्ट रही होंगी, कितना जोर रहा होगा इनमें!”

एक अन्य जगह दर्शना लिखती है- “सामनेवाली मेम का काला-झबरा कुत्ता कितना प्यारा है! इसके काले, बड़े-बड़े बाल कैसे सुहावने

हैं! जी चाहता है, अपना मुँह उसके काले बालों में छिपा लूँ। शाम को जब वह घूमकर आता है तो कितने प्यार से मेम का हाथ चाटता है, दोनों टाँगें उसके कंधे पर रखकर अपना सिर उसकी छाती से लगा लेता है। मेम उसके मुलायम केशों में उँगलियाँ डालकर सहलाया करती है।” दर्शना जब हरीश के घने बालों वाली उघड़ी हुई छाती को देखती थी तो उसके शरीर में काँटे चुभने लगती थीं। दरअसल इस पूरे दृश्य में वह हरीश की कल्पना कर रही है। उसे हरीश की छातियों के काले-काले बाल सुहावने लगते हैं। वह चाहती है कि हरीश जब शाम को घर लौटे तो उसकी छाती में वह अपना मुँह छिपा ले और वह उसके सर के मुलायम बालों को अपनी उँगलियों से सहलाया करे।

डायरी में दर्शना ने अपने पति के बारे में भी लिखा है। इस पक्ष को भी जानना बेहद जरूरी है। डायरी में सबसे पहले वह अपने पति के बारे में ही लिखती है- “इनकी हालत दिन-पर-दिन गिरती जा रही है। इनके चिपके हुए गाल, निस्तेज आँखें, कुम्हलाया पीला चेहरा और धँसा सीना देखती हूँ तो लगता है खूब रोऊँ। इन्हें कैसे अच्छा करूँ कि ये हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हो जाएँ...?” ऐसा नहीं है कि दर्शना को अपने पति की चिंता नहीं है, अगर ऐसा नहीं होता तो वह कब का उसे छोड़ चुकी होती। पति के पीछे रात-दिन वह इतना परिश्रम करती है कि उसकी तबीयत खराब हो जाती है। लेकिन वही पति उसे एक दिन मारता है। हरीश के साथ बोलना, उठना-बैठना उससे बर्दाश्त नहीं होता। एक जगह दुखी मन से वह लिखती है- “आज इन्होंने घर से निकल जाने को भी कह दिया। आज सब जगह इन्होंने पत्र भी लिखे हैं माँ, भैया और दीदी को। जाने क्या-क्या लिखा होगा। जो मौखिक सहानुभूति आज तक मिलती आई थी, वह अब भी बंद हो जाएगी। शायद सब मुझसे नफरत ही करने लगे। फिर भी न जाने क्यों, मुझे न अपने किए का

दुःख है, न इस दंड का! इस सबके बाद मैं स्वयं ही घर छोड़कर निकल जाती। दो दिन आगे या पीछे विधाता जिस दंड का विधान करने वाला था, वह आज ही हो गया! पर इनका क्या होगा? कोई संबंधी यहाँ झांकना भी पसंद नहीं करता! पर जो मनुष्य बिना क्षमता के केवल चाहना-ही-चाहना करता है, उसका अंत इसके आतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?” यहाँ कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। दर्शना का पति और उसके घरवाले इस बात से बखूबी वाकिफ थे कि उसका पति बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। उसका अंत नजदीक है। इसके बावजूद उन्हें इस बात की तनिक भी चिंता नहीं है कि इसके बाद दर्शना का क्या होगा? जिन लोगों को दर्शना और हरीश के सम्बन्ध को स्वीकृति देनी चाहिए थी वही उसे अपमानित और लांछित करते हैं। उसके पति में न तो शारीरिक शक्ति है और न ही अर्थ की दृष्टि से सामर्थ्य, वह सिर्फ मुँह से अपनी पत्नी को चाहता है, भला ऐसा चाहना किस काम का? उसे तो खुश होना चाहिए था कि वह जो चीज अपनी पत्नी को नहीं दे पाया, वह कोई और दे रहा है। उसके जाने के बाद वह उसका भरपूर ख्याल रखेगा। लेकिन वह तो अंदर से अपनी अक्षमता पर कुंठित है और अपनी इस कुंठा और अक्षमता का बदला अपनी निर्दोष पत्नी से लेता है। उसे कलंकित कर देता है। उसकी घटिया सोच दर्शना के जीवन को बर्बाद कर देती है। उसकी सारी भावनाओं को मार देता है। वह जीकर भी जिंदा नहीं रहती। दर्शना के जीवन को बर्बाद करने में हरीश का भी योगदान है। वह भी कम जिम्मेदार नहीं है इसके लिए। दर्शना उससे प्रेम करती है, लेकिन वह उस प्रेम की कद्र नहीं करता। डायरी के इस अंतिम पंक्ति पर ध्यान दीजिए- “हरीश ने मुझपर कहानी लिखी। पर लिखकर इतना मनोवैज्ञानिक बनाने की क्या आवश्यकता थी? यों भी कह देता तो मैं उसे दोष

नहीं देती। मूर्ख कहीं का!”

दर्शना की माँ, भाई या बहन को यह लगता है कि वह गलत काम करके जीवन यापन कर रही है वह सही नहीं है। उनका यह सोचना भी गलत है कि वह अपने प्रेमी के साथ भाग गई है। इनमें से सभी वही देखते हैं, जो उसका पति उन्हें दिखाता है। एक पुरुष की निगाह से वे स्त्री को देखते हैं। इनमें से कोई भी सच्चाई का पता लगाने के लिए दर्शना से मिलने नहीं जाता। वे सभी उसके पति की गलत बात को सच मानकर उसे अकेला और बेसहारा छोड़ देते हैं। दर्शना जीवन जीने के लिए संगीत की शिक्षा लेकर स्कूल में नौकरी करती है। डायरी में लिखती है- “भाग्य से मुझे संगीत के पंडितजी अच्छे मिल गए। एक जमाने में मुझे गाने-बजाने का कितना शौक था पर सब छूट गया था। उस समय तो मात्र शौक था, उसे अब जीविका का साधन बनाना पड़ेगा।... यहाँ एक स्कूल में नौकरी मिल गई है। लगता है, जीवन को एक राह मिल गई। सब ओर से बेसहारा

होकर भी अब जी लूँगी।” यह है दर्शना के जीवन का सच। नैना जिस वाद्य-यंत्र को देखकर डर गई थी, वह दर्शना के ही थे। उसकी जीविका के साधन।

‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ में पहली निगाह नैना की है, दूसरी हरीश की और तीसरी स्वयं दर्शना की। कहानी के सहारे नैना हरीश की दृष्टि से गुजरती है और डायरी के सहारे दर्शना की दृष्टि से। इसके अलावा एक दृष्टि उसके पति की है, जिससे दर्शना की माँ, भाई और बहन देखते हैं।

कहानी की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि नैना दर्शना के पास पहुँचकर भी उससे मिल नहीं पाती, उसी रात उसकी मृत्यु हो जाती है और कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह न मिलकर भी उससे मिल लेती है, वह जिस मासी की खोज में आई थी, वह मासी उसे मिल जाती है।

अथ कोरोना कथा : कोरोजीवी कविताएं

डॉ सुलोचना कुमारी दास

कोरोना वर्तमान जीवन-सारिणी में टंकित एक ऐसा घटक है, जिससे विरला ही कोई अपरिचित हो। इस कोरोना ने जीवन को कालकवलित बना दिया है। एक अदृश्य भय जीवन पर इस तरह पसरा हुआ है कि उससे बच पाना संभव ही नहीं। क्या वृद्ध, क्या शिशु और क्या युवा कोई भी इसके घेरे से मुक्त नहीं है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के पहरे ने तो पहले ही आत्मिक रूप से हमें दूर कर दिया था, उस पर अब कोरोना ने सामाजिक दूरी के नाम पर हमें पूरी तरह से काटकर अलग कर दिया है। सच कहा जाए तो आज हम सब कोरोनामयी समय में जीने को अभिशप्त हैं। क्योंकि दूसरा कोई विकल्प ही नहीं बचा है। ऐसे अभिशप्त और विकल्पहीन समय में दम तोड़ती मानवीयता, क्षीण होती जिजीविषा और समय के अंध गह्वर में खोती संवेदना को बचाने का कार्य करती है कविता।

कविता केवल शब्द-संयोजन मात्र नहीं होती। और न ही कल्पना की अतिरंजना भर होती है। कविता भावों का सहज उच्छलन है। वह संवेदना के सूत्रों से बनती है। यही सूत्र संपूर्ण चराचर जगत को एक दूसरे से जोड़ देते हैं। कविता बांधती नहीं, मुक्त करती है- स्व से, संकीर्णता से, स्वार्थ संबंधों से। इसलिए आज के भयावह परिदृश्य में कविता की प्रयोजनीयता और भी बढ़ गई है।

कोरोना विगत डेढ़-दो वर्षों से संपूर्ण मानव-जीवन पर महामारी की तरह पसरा हुआ है। इसने न केवल जीवन-मूल्यों को आहत किया है, वरन् सभ्यता के दीर्घकालीक सूत्रों, विचारों, प्रसंगों और व्यवहारों को भी क्षत-विक्षत् कर दिया है। ऐसे समय में सृजनकारों का दायित्व और भी बढ़ जाता है। आज उन्हें अपनी सर्जनात्मकता और रचनात्मकता के द्वारा न केवल अपनी समकालीनता को बचाना है, बल्कि समय-सच के चंगुल में फंसी जिजीविषा, उम्मीद और संभावनाओं को भी 'उड़ चल हारिल' की तरह बचाना है। सजग और युगचेता रचनाकार बखूबी अपने दायित्व का निर्वाह कर रहे हैं। उन्होंने अपनी रचनात्मक ऊर्जा से समय के स्याह पट पर उम्मीद की ज्योति को प्रज्वलित करने में कोई कसक नहीं छोड़ी है। वरिष्ठ आलोचक अरुण होता द्वारा संपादित कविता पुस्तक 'तिमिर में ज्योति जैसे' इसी भावना का दस्तावेजी संचयन है।

अरुण होता हमारे समय के अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचक हैं। वे कवि नहीं हैं, किंतु कवि-मर्म को भली-भांति पहचानते और गुनते हैं। कोरोना-संकट के कारण जब हम सब अपने-अपने घरों में कैद हो गए, तब भी सृजनकार लगातार सृजनरत रहे। आज तो जैसे कविता लिखना बच्चों का खेल हो गया है। सभी कवि बनने की होड़ में लगे हुए हैं। ऐसे में समुद्र से सच्चे मोती चुन लाने का कार्य तो कोई पारखी और चेतनशील व्यक्तित्व ही कर सकता है। 43 महत्वपूर्ण कवियों का चयन करना कोई सहज कार्य नहीं है। आलोचक अरुण होता समय-संदर्भ को ध्यान में रखते हुए पूरी सजगता और निष्ठा के साथ यह कार्य करते हैं। आलोच्य संकलन में संकलित 43 कवि और उनकी लगभग 115 कविताओं का संचयन इसका साक्ष्य है।

पुस्तक के प्रारंभ में 'महामारी में जिजीविषा बनाए रखने वाली कविताएँ' शीर्षक से लिखी गई लंबी

भूमिका केवल भूमिका या संपादकीय भर नहीं है, बल्कि संपूर्ण संचयन का जीवद्रव्य है। आलोचक की पैनी दृष्टि न केवल कोरोना-काल में लिखी गयी कविताओं का विश्लेषण-मूल्यांकन करती है, वरन् कोरोना का सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आंकड़ा भी प्रस्तुत करती है- “लगभग एक साल से भारत सहित संपूर्ण विश्व कोरोना महामारी से पीड़ित है। यह महामारी गरीबों के लिए आपदा है और अमीरों के लिए अवसर सिद्ध हुई है। विश्व में प्रायः बीस करोड़ लोग इसकी चपेट में आ चुके हैं और लगभग चालिस लाख लोगों की मृत्यु हो चुकी है।.... भारत में बिल्कुल अवैज्ञानिक, अनियोजित तरीके से और बिना सोचे-समझे आनन-फानन में मार्च 2020 में लॉकडाउन घोषित कर दिया गया। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था तबाह हो गयी। जन-जीवन विपर्यस्त हो गया। गरीब, मजदूर, श्रमिक तबाह हो गये। लगभग बीस करोड़ लोग बेरोजगार हो गये। भवन-निर्माण, वस्त्र-उद्योग, ईंट भट्टियों, घरेलू कार्यों, कृषि, परिवहन, खदान आदि में काम करने वाले मजदूरों का काम ठप्प हो गया। हजारों बेघर हुए। जीने के लिए दो जून तो क्या एक जून का खाना भी नसीब न हुआ। ऊपर से तेजी से बीमारी का संक्रमण फैलता जा रहा था। पैरों में फफोले लिए तमाम मजदूरों को यह कहते सुना गया कि ‘कोरोना से मरें न मरें भूख से जरूर मर जाएंगे।’ मजदूर मजबूर थे। हजारों किलोमीटर की दूरी नापने पैदल, ठेले, रिक्शा, साइकिल, ऑटो, जो भी साधन था, उसके सहारे निकल पड़े। डिजिटल इंडिया में मजदूरों ने अपना नाम पंजीकृत किया, लेकिन व्यवस्था की ओर से कोई जवाब न मिला। श्रमिक स्पेशल ट्रेनों को लेकर राज्य और केन्द्र सरकारों का जो सियासी खेल शुरू हुआ, उसे भला कौन नहीं जानता। अपने अक्षम पिता को साइकिल पर लादे गुरुग्राम से दरभंगा तक की दूरी तय करने वाली बेटी ज्योति पासवान को लेकर भी सियासत

कुछ कम नहीं हुई? मजदूरों के इस विस्थापन को केवल ‘मानव स्वभाव’ कह देना कहाँ का न्याय है? तेज धूप, लू, भयानक गमी में नंगे पाँव, सिर पर गठरी या थैला उठाए, बगल में शिशु को सम्हाले ‘आत्मनिर्भर भारत’ के भूखे-प्यासे मजदूर राष्ट्रीय राजमार्ग पर निकल पड़ते हैं। कैसा अमानवीय दृश्य है! काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब। शर्म तुमको मगर नहीं आती।¹⁶

समय-सच की अभिव्यक्ति कविता का कार्य है। तो वहीं मानव-मूल्यों की रक्षा करना उसका दायित्व है। कोरोजीवी कविताएँ अपने कार्य और दायित्व दोनों का पूर्णतः निर्वाह करती हैं। इस संदर्भ में आलोचक का कथन अवलोकनीय है- “अपने समय और समाज की हलचलों, घटनाओं, परिघटनाओं, अन्तर्विरोधों, विसंगतियों, असमानताओं आदि से अप्रभावित रहकर उनसे टकराए बिना, जूझे बिना सृजन कर्म का निष्पादन हो तो उसका स्थायित्व सन्देहास्पद हो जाता है। इस दृष्टि से कोरोजीवी कविता का विशेष महत्त्व है। कोरोजीवी कविता कोरोजयी है। यह इसलिए कि कोरोनाकालीन कविता केवल दुख और दर्द से भरी कथाएँ दर्ज नहीं करती हैं, बल्कि प्रताड़न और प्रेम दोनों रूपों को मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त करती है। भयावह और मारक स्थितियों में भी मानव-प्रेम को संवेदित करती है। जीवन के पक्ष में खड़ा होना चाहती है। अत्यंत डरे और आतंकित समय में थोड़ी सी मनुष्यता को बचाए और बनाए रखने की जद्दोजहद करती है। अविश्वास, अत्याचार, शोषण, आतंक के साम्राज्य में तमाम आशंकाओं और अनिश्चितताओं में भी संभावनाओं के द्वार की तलाश करती है। विकल्पहीनता के दौर में नए विकल्पों का अन्वेषण करती है। यह कविता हमें हताश नहीं करती, उदास नहीं करती, निराश नहीं करती बल्कि तमाम मुसीबतों से लड़ते-जूझते हुए पाठकों में नयी आशा और नया विश्वास का भाव उत्पन्न करती है। नयी

उम्मीदों का संचार करती है।¹⁵

कोरोना ने वर्तमान समय को इतना विषैला और बेगाना बना दिया है कि वह अपना-सा प्रतीत ही नहीं होता है। कोरोनाकालीन समय की विडंबना को बयां करती वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी की काव्य पंक्तियां हैं-

“हम अपना समय नहीं लिख पाएँगे :

यह ठहरा हुआ निर्जन समय¹⁶

कवि अचंभित है ऐसे समय को देखकर। उसे यकीन नहीं हो रहा है कि सचमुच समय इतना बदल चुका है। समय की विकरालता और मृत्यु के दंश ने सबको अपरिचित बना दिया है। सड़कें सूनी पड़ी हैं। कहीं कोई आवाज नहीं। कोई आवाजाही नहीं। चारों ओर विरानेपन का संसार गड़ता जा रहा है। जैसे जीवन का संपूर्ण व्यापार ही स्थगित हो गया हो। इस संदर्भ में अनामिका लिखती हैं-

“फुर्सत का पूरा समुन्दर है,
पर बन्द हैं रास्ते!”

औद्योगिकीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद आदि के स्वर्ण-पाश में फंसी मानव-सभ्यता इतनी व्यस्त और कृत्रिम हो गयी कि उसके पास आत्मीय लोगों और संबंधों के लिए समय ही नहीं बचा। विकास की आंधी ने ऐसा कहर बरपाया कि एक घर में रहने वाले लोग साथ-साथ रहते हुए भी एक दूसरे से अजनबी हो गये। ऐसी संवेदनहीन परिस्थिति को देखते हुए कवि जितेंद्र श्रीवास्तव को कहना पड़ा कि “फोन नहीं है जीवन/ फिर कैसे हो जाता है जाम/ रिश्तों का नेटवर्क।” किंतु आज जब कोरोना के कारण जीवन की गतिमयता थम-सी गयी है। जब फुर्सत ही फुर्सत के क्षण हैं। तब भी हम एक दूसरे से नहीं मिल सकते हैं, क्योंकि हम सब पर जहरीली हवा का पहरा है। इसलिए महेश आलोक लिखते हैं-

“सच कहूँ कि मैंने पहली बार जाना कि मृत्यु का भय

प्रेम को भी लील लेता है।¹⁷

मानव-जीवन का सबसे बड़ा धरोहर है- प्रेम। प्रेम का स्पर्श ईश्वर के होने का एहसास कराता है। किंतु कोरोना ने इस स्पर्श को भी छीन लिया। इस भाव की बड़ी मार्मिक व्यंजना ‘कोरोना त्रिपदी’ में द्रष्टव्य है-

“वह एक तुम्हारा स्पर्श ही तो था

कि जिससे होती थी ईश्वर के होने की अनुभूति
कोरोना ने मुझे निरीश्वर कर दिया।¹⁸

इस कविता के संदर्भ में बड़े सधे शब्दों में आलोचक की टिप्पणी है- “इस कविता में ‘स्पर्श’ और ‘निरीश्वर’ बीज शब्द बनकर आते हैं। ‘तुम्हारा स्पर्श’ यानी मनुष्य का ‘स्पर्श’ मनुष्य के प्रति है। कोरोना मे उसी स्पर्श की पाबंदी रही। इसलिए निरीश्वरता है।¹⁹

कोरोना ने मानव-प्रेम को तो बाधित किया ही, दांपत्य-प्रेम भी इससे अछूता नहीं रहा। कोरोना संक्रमण के शिकार कवि जितेंद्र श्रीवास्तव अपने कमरे में कैद अपनी प्रिया के स्नेहील स्पर्श को, बेटों के सान्निध्य को तरशते हैं और अपने कमरे के भीषण एकांत में महसूस करते हैं कि-

“कई बार लगा

जैसे आ ही गयी अब विदा की बेला
उस क्षण आँखों में चुपचाप बैठी थीं बेटियाँ
वैसे भी वे रहती हैं वहीं

लगा जैसे

कितना कम चल पाया मैं उनके साथ

ठीक से खेल भी नहीं पाया

देख नहीं पाया उन्हें उड़ान भरते

सजल नैनो से बार-बार निहारा तुम्हारी ओर
मन ही मन जोड़ लिए हाथ

इस अधूरे साथ के लिए क्षमा करना प्रिय!²⁰

दरअसल वह प्रेम ही है जो जीवन को जीवन

बनाता है। मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य बनाता है। मनुष्य को जीवन-राग सिखाता है। कोरोजीवी कविताएँ इस मर्म को जानती हैं। इसलिए प्रेम के बचे होने की उम्मीद अब भी यहां शेष है। मदन कश्यप, जितेंद्र श्रीवास्तव, नीलेश रघुवंशी, महेश आलोक आदि की कविताओं में सघनतम प्रेम की अभिव्यक्ति समय के भयावह दंश से बच निकलने की उम्मीद के रूप में सामने आती है। ये कवि अपने प्रेम से मृत्यु तक को परास्त करने की गरज रखते हैं-

“मरने के बाद भी मुझे इसी तरह खूना
ऐसे ही पलकें झुकाकर शरमाना
और मुँह फेरकर मुस्कुराना
चाहता हूँ
मेरा सब कुछ तुम्हें इस तरह मिल जाए
कि मृत्यु को कुछ मिले ही नहीं।”
(मदन कश्यप)

समय-यथार्थ की बेबाक अभिव्यक्ति कोरोजीवी कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कोरोना महामारी गरीबों के लिए आपदा है तो अमीरों के लिए अवसर। लॉकडाउन के घोषित होते ही असंख्य कामगर लोग बेकाम हो गए। उनकी रोजी-रोटी छीन गयी। उन्हें भूखे रहने के लिए विवश होना पड़ा। भूखे लोग सड़क पर उतर आए। रेल की पटरियों पर बिछ गए। क्योंकि भूख कोरोना से कहीं अधिक भयावह थी। रश्मि भारद्वाज के शब्दों में- ‘इनकी स्मृतियों में दर्ज हैं सिर्फ भूख की आवाजें।’ इसलिए जो मज़दूर वर्ग कभी गाँवों से निकलकर रोजी-रोटी की तलाश में शहर आए थे और आकर यहीं के होकर रह गये। अब उन्हें वापस पलायन करना पड़ रहा है। मज़बूर मज़दूर अपने-अपने घर को लौटने के लिए पैदल ही लंबी यात्रा पर निकल पड़ते हैं। कवि सुभाष राय लिखते हैं-

“हजारों लोग सड़क पर आ गये
जितने लोगों को रोका गया

उससे ज्यादा निकल आए सड़कों पर
X X X
रोटियाँ टूटे हुए सपनों की
मानिन्द बिखर गयीं पटरी पर
लोग मरते गये और बढ़ती
चली गयी जीने की जिद।”

मज़दूरों का विस्थापन कोरोनाकाल का अत्यंत त्रासद यथार्थ है। जिन शहरों, भवनों, सड़कों, पुलों, अट्टालिकाओं आदि को उन्होंने अपने हाथों से रचा था, आज वहीं उनके लिए कोई जगह नहीं है। धूप, वर्षा, गमी, सदी हर परिस्थिति में जो सदैव कार्यरत रहे, कोरोना ने उन्हें पूरी तरह से लाचार और बेघर बना दिया। ‘लॉकडाउन में पदयात्रा’ शीर्षक कविता में नासिरा शर्मा लिखती हैं-

“बनाकर कल-कारखाने, अस्पताल, घर और स्कूल/लौट रहे हो तुम, हर जगह से खाली हाथ।”
आलोच्य संग्रह की अधिकांश कविताओं में मज़दूरों की व्यथा-कथा का मर्म निहित है। अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी, ज्ञानेन्द्रपति, हरीशचंद्र पांडे, कुमार अंबुज, स्वप्निल श्रीवास्तव, बोधिसत्व, संजय कुंदन, राकेश रेणु, नीलेश रघुवंशी, उपेन्द्र कुमार, रामाज्ञा शशिधर, निशान्त, वसन्त सकरगाए, संतोष कुमार चतुर्वेदी, लीना मल्होत्रा, आत्मारंजन, कमलजीत चौधरी, अनिल करमेल, शंकरानन्द, पुरु मालव, यतीश कुमार, अनामिका अनु, गोलेन्द्र पटेल आदि तमाम कवियों की कविताओं में मज़दूरों की मर्यान्तक दशा के चित्र सहज ही देखे जा सकते हैं। यहां कहीं क्रंदन-रुदन है तो कहीं विस्थापन-पलायन। कहीं ईश्वरीय आस्था से मोहभंग है तो कहीं संघर्ष, उम्मीद और अदम्य जिजीविषा। यथा-

“महाविपत्ति के समय अनुपस्थित
हो जाता है ईश्वर
तैंतीस करोड़ देवता कूच कर जाते हैं
विफल हो जाती हैं प्रार्थनाएँ

X X X

ऐसे दुर्दान्त समय में सबसे
ज्यादा भरोसा अपने साहस और
जिजीविषा पर किया जाना चाहिए।

(स्वप्निल श्रीवास्तव)

इस कोरोना काल की विडंबना ऐसी कि
मजदूरों की करुण-दशा पर प्रशासन भी मौन साधे
हुए है। व्यवस्था की चुप्पी और कुप्रबंधन से ये
कवि मर्माहत हो उठते हैं। उनके भीतर प्रतिरोध
का स्वर फूट पड़ता है और वे चित्कार उठते हैं-

“बहस छेड़ो पलायन पर
संघर्ष पर करो विमर्श
आपदा बनाम जान
भूख बनाम जीवन
नहीं हैं क्या शाश्वत प्रश्न।
(मनीषा झा)

कोरोजीवी कविताओं में जहाँ मजदूर वर्ग की
यातना का चित्रण है, वहीं श्रम के सौंदर्य का भी
निदर्शन है। संग्रह की तमाम कविताओं में श्रम
और संघर्ष का अद्भुत सौन्दर्य उपस्थित है। श्रीप्रकाश
शुक्ल के शब्दों में कहें तो “यह जो कोरोजीवी
कविता है, प्रतिभा से अधिक, श्रम के महत्त्व की
शिनाख्त करने वाली कविता है। दरअसल श्रम
और संघर्ष आम आदमी की सबसे बड़ी ताकत है।
इसी के दम पर वह दुनिया को रचता है। गढ़ता
है। कोरोनाकालीन परिदृश्य में भी उसका श्रम और
संघर्ष यथावत है। अपने इसी दम-खम पर वह
दुनिया को रसातल में जाने से बचा लेने की
अनवरत कोशिश करता है। इस संदर्भ में अमरजीत
राम की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है-

“ऐसे संकट के समय में
जब ईश्वरी सत्ता नाकाम सिद्ध होती है और
पृथ्वी पर कहीं नहीं बचती प्रेम करने की
जगह

तो तुम अपने उदास हाथों से चुन लाती हो

अंचरा भर

टेंगुरी और बेइल के सफ़ेद-सफ़ेद शान्ति के
फूल

बुद्ध की करुणा के लिए
अम्बेडकर के सामाजिक न्याय के लिए और
रैदास के समता, समानता एवं विश्वबन्धुत्व के
लिए

ताकि पृथ्वी पर बच सके इंसान
बच सके सभ्यता और
बच सके उनका आपसी प्रेम।

कोरोना से त्रस्त आम-जन-जीवन की एक
और बड़ी विडंबना रही उनका अंधविश्वास। इस
अंधविश्वास ने कोरोना को महामारी से उठाकर
कोरोनामाई में तब्दील कर दिया। साधारण घरों
की स्त्रियां नदी किनारे जाकर धूप, बताशा, अड़हुल
फूल आदि से कोरोनामाई की पूजा-अर्चना करने
लगीं। कोरोनामाई से विनती करने लगीं कि वे
अपना प्रकोप शांत कर दें। इसी सत्य को उजागर
करती ज्ञानेद्रपति की कविता है ‘कोरोनाकाल में
अड़हुल’। एक आम स्त्री कोरोना की लाखों पाबंदियों
के बावजूद एक दिन अचानक डॉक्टर साहिबा के
दरवाजे पर दस्तक देती है। दरवाजा खुलने पर वह
कहती है ‘हमका गुड़हल के फूल चाही’, स्त्री की
इस विनम्र निवेदन को डॉक्टर साहिबा नकार न
सकीं और उन्होंने उसे फूल तोड़ लेने की अनुमति
दे दी। थोड़ी देर बाद वह स्त्री फूल तोड़कर जाने
की वजाय पुनः डॉक्टर साहिबा के पास आती है
और निराशा तथा आशा के मिले-जुले स्वर में
कहती है- ‘और कोई के हियाँ/ गुड़हल होय त
बतावे।’ इस पर डॉक्टर साहिबा चकित होकर
कहती हैं कि अब किस लिए? पूजा भर के लिए
फूल तो तुम्हें मिल ही गये हैं। तब वह स्त्री अपने
आँचल के फूलों को दिखाते हुए कहती है कि
‘देखे/ छहे हैं/ तीन कम पड़ रहे हैं।’ दरअसल उसे
कोरोनामाई की पूजा के लिए नौ अड़हुल के फूल

की आवश्यकता थी। नौ से कम फूल में संभवतः कोरोनामाई प्रसन्न नहीं होंगी। उसका अंधविश्वास उससे कोरोना के बचाव के नियमों की धज्जियाँ उड़वा देता है। अब भला इन स्त्रियों को कौन समझाए कि महामारी से निपटने के लिए ज्ञान और विज्ञान की आवश्यकता है, न कि अंधविश्वास के अंधे गोह की।

दरअसल सत्ता आम जन-जीवन में व्याप्त बाह्याडंबर, जड़ता, अंधविश्वास, धर्मांधता आदि को समाप्त करना ही नहीं चाहती है। वह नहीं चाहती कि लोग इस भ्रम से कभी बाहर आए। ताकि सत्ता अपना अवसरवादी खेल आसानी से खेलती रहे और कोई उसे समझ भी न पाए। वह अपनी चालाकियों से आपदा को अवसर में बदल देती है। ज्ञानेन्द्रपति लिखते हैं-

“मति को मुड़ी में रख, जनमत को कैद करने के अभ्यासी

चाहते, बनी रहे जनता अंधविश्वासी
करुणामूर्ति मंगलकामिनी स्त्रियां इनकी सहज शिकार

फूले-फूले राजनीति और धर्म का संयुक्त व्यापार
सो, इसी नवोदिता कोरोना माई के पूजन के निमित्त

चाहिए नौ अड़हुल के फूल
कर्मकाण्ड में न हो कोई भूल
मोबाइल पर सोशल मीडिया की मार्फत
घर-घर चेताया जाता है

बार-बार विधि विधान बताया जाता है।^७

कोरोजीवी कविताओं में सत्ता, व्यवस्था, धर्म और मीडिया के छल-छद्म का पूरा-पूरा खुलासा है। ये कविताएँ मानवताविरोधी शक्तियों की शिनाख्त करते हुए अवसरवादियों की कपटलीलाओं का पोल-खोल करती हैं। कोरोनाकाल में एक ओर कोरोना माई के रूप में अंधविश्वास का जन-प्रसार हुआ तो दूसरी ओर धर्म के ध्वजाधारियों और

ठेकेदारों से इन कवियों का विश्वास भी उठ गया। जो लोग ईश्वर के दूत और महात्मा होने का दावा कर रहे थे वे भी कोरोना संक्रमित हुए। सारी प्रार्थनाएँ, पुकार सब मौन में बिला गए। जैसे ईश्वर बहरा हो गया हो या फिर वह हो ही नहीं। संजय कुन्दन के शब्दों में-

“आसमान से पंख फड़फड़ाता

कोई नहीं उतरा दिव्य चमक लिए।^८

कोरोजीवी कविताएँ एक ओर ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा करती हैं तो दूसरी ओर मनुष्य की अपराजेय शक्ति, सामर्थ्य, जिजीविषा और उम्मीद को स्थापित करने का प्रयास भी करती हैं। यथा-

१. “इस कायनात को हमारे जीने की
जिद्द ही बचा सकती है।^९

(स्वप्निल श्रीवास्तव)

२. “हर रात की कोख में एक सुबह जरूर
होती है

अन्ततः रातें बीत जाती हैं...^{१०}

(जितेंद्र श्रीवास्तव)

कोरोजीवी कविताओं में परंपरा और आधुनिकता का सुंदर समन्वय भी द्रष्टव्य है। विशेषकर ‘कोरोनाकाल में अड़हुल’ और ‘अबके नागपंचमी में’ जैसी कविताओं में लोक, मिथक, परंपरा और कोरोनाकालीन विसंगतियाँ-विडंबनाएँ सब एक साथ मूर्त हो उठी हैं। साथ ही प्रकृति-पर्यावरण से लगाव भी यहाँ पूरी जीवन्तता के साथ मौजूद है। बकौल संपादक “छायावाद के बाद इसी दौर में कवियों ने अपने परिवेश के प्रति इतनी गहरी संलग्नता और संबद्धता दिखायी है। कोरोनाकाल में कवि ने अपने परिवेश को गहरे रूप से देखा, जाना, समझा और आत्मीय और प्रगाढ़ संबंध भी स्थापित किया।...उनके प्रकृति से संबंध ने कोरोजीवी कविता को नया आयाम प्रदान किया।^{११} नासिरा शर्मा की कविता ‘अम्मा दौड़ो’ में प्रदूषण मुक्त

आकाश की कामना की गई है तो श्रीप्रकाश शुक्ल की कविता 'कचकचिया', 'फूलसुँघनी', 'चमगादड़', 'कोइलिया जल्दी कूको ना' आदि में परिवेश से जन के अदृश्य होते जाने की पीड़ा साफ-साफ देखी जा सकती है। साथ ही, यहां कोरोनाकालीन परिदृश्य के बदलने और बेहतर परिवेश की कामना भी निहित है।

सच कहा जाये तो कोरोनाकाल में लिखी गयीं ये कविताएँ अपने समय और समाज से मुठभेड़ करती हुई अपने समय के दंश को रूपायित करती हैं। कोरोनाकालीन यथार्थ से रू-ब-रू कराती हैं। साथ ही, अपनी सहज काव्य प्रकृति के अनुरूप भविष्य के लिए थोड़ी-सी उम्मीद, थोड़ी-सी जिजीविषा और थोड़ी-सी मनुष्यता को 'दाल में नमक' की तरह बचा लेना भी चाहती हैं। कोरोना ने भले ही मानव-जीवन को परास्त कर दिया हो, लेकिन वह कविता की आस्था को परास्त नहीं कर पाया।

कविता अब भी बची है। और कविता का बचा होना प्रमाण है हृदय के उस पक्ष के बचे होने का, जो संवेदनशील है। जो आस्थावान है। कोरोजीवी कविताएँ केवल इसलिए ही महत्वपूर्ण नहीं हैं कि इसमें कोरोनाकालीन यथार्थ का चित्रण हुआ है। बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि ये कविताएँ मानवीय जिजीविषा की कविताएँ हैं। आलोच्य संचयन के नामकरण 'तिमिर में ज्योति जैसे' को पूरी सार्थकता और गरिमा प्रदान करती हैं ये कविताएँ। कोरोना रूपी स्याह तिमिर को परास्त करती, मानवीय जिजीविषा के श्वेत पुष्पों से भरी कोरोजीवी कविताओं के लिए इससे अधिक उपयुक्त और समीचीन नाम दूसरा नहीं हो सकता था। अस्तु, प्रेम, उम्मीद, आस्था और जिजीविषा कोरोजीवी कविताओं का जीवद्रव्य है, जो उसे कोरोजीवी से कोरोजयी बनाती है।

संपर्क : परिमल मित्र स्मृति महाविद्यालय,
माल बाज़ार, जलपाईगढ़ी, 735221

आलोचना के समानान्तर

- रानी सुमिता

‘आलोचना के समानान्तर’ पुस्तक समीक्षक एवं कथाकार डॉ. सुनीता गुप्ता द्वारा स्त्री आलोचना के सीमित संसार को समृद्ध करने का सार्थक प्रयास है। कई कारणों से यह पुस्तक विशेष कही जायेगी। समग्र रूप से इस पुस्तक में लेखिका ने स्त्री लेखन द्वारा तय की गई लम्बी यात्रा को आलोकित करने की अथक कोशिश की है।

स्त्री दृष्टि से लिखी आलोचना की यह पुस्तक मात्र निर्णयात्मक अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि तह में जा कर उस इतिहास को खंगालने और दृष्टिपात करने की तथा स्त्री लेखन समय काल के साथ किस दिशा में कितना अग्रेसित हुई है, इसे समझने की कोशिश भी है। साथ ही यह भी कि आकलन की कसौटी में स्त्रियों का लेखन साहित्यिक संसार द्वारा सही तथा न्यायसंगत उद्बोधन से परिभाषित हुआ या नहीं।

डॉ. सुनीता गुप्ता की पुस्तक ‘आलोचना के समानान्तर’ उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। ये लेख प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं। सभी बाइस आलेखों को ‘विमर्श के बहाने’ और ‘रचना के बहाने’ दो अलग नजरिए से देखने की कोशिश की गई है। ‘विमर्श के बहाने’ में स्त्री के खुद के वजूद के लिए हर उठाई गई आवाज को सुनने की कोशिश की गई है। जब मैं पुस्तक के शीर्षक ‘आलोचना के समानान्तर’ पर गौर करती हूँ तो उनके पाँचवे आलेख ‘आलोचना के समानान्तर’ पर लेखिका के आलोचना और विमर्श की परिभाषा के तर्क पर विशेष गौर करना आवश्यक हो जाता है। विमर्श अपनी अति मुखरता के लिए ज्ञात है, अपने प्रति उचित स्थान की जवाबदेही के प्रति सतर्क है। तो क्या विमर्श आज आलोचना के समकक्ष आ खड़ा हुआ है? आलोचना के वे तराजू जो लेखन को तौलने के लिए प्रसिद्ध हैं, विमर्श के उठते कद से बेचैनी में हैं? सुनीता गुप्ता स्पष्ट करती हैं कि आलोचना निर्णयात्मक है पर विमर्श में संवाद की स्थिति होती है। तार्किक विश्लेषणों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि अस्मिता विमर्श को साहित्य से पृथक् मानकर नकारे जाने का प्रयास हमारे पुरुषवादी व्यवस्था द्वारा होता रहा है। इससे बाहर निकलने की कोशिश होना आवश्यक है और विमर्श को उचित दर्जा दिया जाना आवश्यक है। संपूर्ण पुस्तक में स्त्रियों की जिजीविषा, पितृसत्तात्मक समाज में हाशिये की अपनी उपस्थिति पर बगावत करते मन को कलमबद्ध करने की कोशिशों का मार्मिक मूल्यांकन है। हमारे पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियाँ बहुत दूर से चल कर आ रही हैं। ऐसे में एक स्त्री समीक्षक उस इतिहास को बारम्बार खंगाले बिना चुप नहीं रह सकती जहाँ से स्त्रियों ने अपने अस्तित्व के विषय में सोचना शुरू किया था। यह समीक्षक सुनीता गुप्ता की सहज स्त्री सोच है जो स्त्री लेखन के विकास क्रम में हर बार डुबकी लगाती हैं और हर आलेख को एक विशिष्टता प्रदान करती हैं।

पुस्तक के पहले ही आलेख ‘दहलीज के पार’ में स्थिति और अवस्थाओं से इतर समस्त महिलाएँ इस विमर्श में शामिल हैं, शहरी, ग्रामीण, कामकाजी, घरेलू, खेतिहर और वेश्याएँ हर वर्ग की मनःस्थिति को विमर्श के दायरे में उठाने की एकनिष्ठ कोशिश की गई है। उनका कथन कि महिलाओं ने स्वतंत्रता संग्राम में बेशक बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया हो पर वह उनकी मुक्ति का राग नहीं था, सौ फीसदी सच्चाई

की ओर इशारा है। अंतराष्ट्रीय महिला वर्ष 1975 और अंतराष्ट्रीय महिला दशक (1975-1985) को लेखिका ने लैंडमार्क मानते हुए इसके पूर्व और पश्चात महिलाओं की स्थिति और उनके प्रति नजरिए पर आये सापेक्ष अंतर पर प्रकाश डाला है। दहलीज के बाहर कदम रखती अपना वितान ढूँढ़ती स्त्रियों को भूमंडलीकरण के युग में परिभाषित करती सुनीता गुप्ता लिखती हैं कि, बाजारवाद ने पावर-युमन को जन्म दिया। ऐसा लगा मानो दुनिया औरतों के लिए बदल गई है परन्तु सच्चाई यह थी कि बाजार ने उसे बहुत हद तक 'वस्तु' में परिवर्तित कर दिया है और वे पुनः उसी जगह आ खड़ी हो गई हैं जहाँ से उनकी मुक्ति की यात्रा शुरू हुई थी। यह एक सार्थक विश्लेषण है। स्त्री को पुरातन काल से ही एक वस्तु और भोग्या के रूप में देखने की समाज को आदत रही है। आज वैश्वीकरण के अंधे दौर में घर-बाहर दोनों की जिम्मेदारी स्त्रियों को थमा और पावर-युमन का टैग लगा परफेक्ट बनाने की कोशिश दोहन का नया तरीका भर है। इसमें स्त्री को मनुष्य समझे जाने की उम्मीद काफी हद तक फिर धरी की धरी रह गई है। लेखिका ने आलेख दर आलेख महिलाओं की विकास यात्रा के हर सत्य को उजागर करते हुए समाज के नजरिए पर कठोरता से वार किया है। जिस देश में महिलाओं की जिम्मेदारियाँ एक उपाधि के तौर पर बहुत चालाकी से थोपी गई हैं नजीनतन महिलाएँ सदियों तक खुद को विस्तृत किए रहीं और जिम्मेदारियों को ही बस अपनी नियति समझने के लिए बाध्य रहीं, उस देश में अपनी आत्मकथा को जब दुनिया के समक्ष लाने का साहस स्त्रियों के बढ़ते कदम, आत्म जागृति में बढ़ते कदम की बेबाक दखलअंदाजी कहा जाएगा।

‘स्त्री कविता के पचास वर्ष’ समीक्षक के द्वारा एक गहन पड़ताल है। हाशिये पर रही उन कवयित्रियों पर आलेख को फोकस किया गया है

जो रचनात्मक उपस्थिति के बावजूद साहित्य जगत के संज्ञान में नहीं आईं। वे मोना गुलाही से हमारा साक्षात्कार करवाती हैं जिनकी कविताएँ पुरुष प्रधान समाज के प्रति एक स्त्री के चुक गये धैर्य की कथा है। आप उसके मानसिक संताप और उसकी तपन को महसूस कर सकते हैं। मणिका मोहिनी, सविता डागा, सुधा गुप्ता आदि सहित कई गुमनाम हो गई कवयित्रियों की कविताई मनोदशा का सूक्ष्मता से आकलन किया गया है। बेशक नया संसार, नई भूमिका स्त्री को पुकारने लगे और वे आगे बढ़ने को, दुनिया को खुली आँखों से देखने को आतुर हुईं पर स्त्री के लिए उसके संस्कार को छोड़ना कठिन रहा है और उन्होंने खुद को एक अंतर्द्वंद्व में फँसा हुआ महसूस किया। स्नेहमयी चौधरी और कई कवयित्रियों का जिक्र करती हुई वे आगे बढ़ती हैं और शांति सुमन, रमणिका गुप्ता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती हैं जिनके लेखन में साफ तौर पर बदलती हुई स्त्री दिखती है। दशक पर दशक स्त्री मन के उतार चढ़ाव और बदलाव को ढूँढ़ कर किताब का हिस्सा बनाना लेखिका की उपलब्धि है। इसमें पूनम सिंह, कात्यायनी, निर्मला पुतुल, वर्तिका नंदा, नीलेश रघुवंशी, वंदना देवेन्द्र, रश्मि रेखा एवं नित नयी जुड़ती कवयित्रियों को शामिल करने की सच्ची कोशिश है।

सुनीता गुप्ता ने न केवल लेखन की दुनिया को ही तलाशा है बल्कि उन्होंने सिनेमा की दुनिया में भी स्त्रियों की बदलती कहानी के नये स्वरूप पर नजरें दौड़ाई हैं। स्त्री की बदलती भूमिका, उनके बढ़ते कदम पर विचार प्रकट करते हुए वे पौराणिक काल की ओर भी बेहद गहराई में जाकर छानबीन करती हैं और ‘सीता की उत्तर कथा’ में अपने विमर्श को सार्थकता देती हैं। राम-सीता कथा को वाल्मीकि तुलसी, भवभूति के लेखन का तुलनात्मक वर्णन करते हुए वे इस नवयुग में सीता के संघर्ष

को नवदृष्टि से देखते हुए बहुत सधे और खरे तरीके से उतारती हैं। वे लिखती है कि जहाँ महाकाव्य राम के आदर्शवादी चरित्र को व्यंजित करते हैं वही लोकगीत सीता के हृदय की व्याकुलता, स्वाभिमान और विद्रोही मनोभावों की कहानी कहते नजर आते हैं। महाकवियों का झुकाव मर्यादा पुरुषोत्तम के हर उठाये गये कदम पर नत भाव से था जबकि लोकगीत सीता के हर दुखती रग पर हाथ धरे नजर आते हैं। महाकाव्य सापेक्ष लोकगीतों का यह आकलन इस पुस्तक की एक थाती है।

‘रचना के बहाने’ श्रेणी में लेखिका ने उन सभी नब्जों को टटोला है जहाँ युगों तक मानसिक यातनाओं के अनगिनत तहों के बावजूद स्त्रियों की चुप्पियाँ उनके जीवन का हिस्सा थीं। ‘चुप्पी की दरारों से झाँकते सच’ के अंतर्गत सुधा अरोड़ा की पुस्तक ‘एक औरत के नोटबुक’ का उल्लेख अतिविशिष्ट है। ‘हेल्प’ से जुड़ी लेखिका सुधा जी के समाज से जुड़े अनुभवों में एक औरत की बेचैनियों से लेकर बेचारगी देखी जा सकती है। सुधा अरोड़ा की कहानियों का विश्लेषण एवं उनके साक्षात्कार का विशेष उल्लेख स्त्री नजरिये को ध्यान में रखकर लिखी गई पुस्तक को एक यथार्थ स्वरूप देता है। वहीं लेखिका और एक्टिविस्ट रमणीका गुप्ता के लेखन पर सुनीता गुप्ता की दृष्टि बार-बार गई है जो इस पुस्तक की उपलब्धि है। रमणीका गुप्ता की कविताएँ और कहानियाँ मुख्यतः आदिवासी जनजीवन के चारों ओर कलमबद्ध है। आदिवासी समाज की स्त्री के संवेदनशील मन के साथ साथ उनमें उमड़ते प्रतिरोध की चेतना की वजह से उस जनजातीय समाज में आ रहे बदलाव का विस्तृत लेखा-जोखा इस पुस्तक की गुणवत्ता में इजाफा करते हैं।

‘आधुनिक स्त्री दृष्टि में मीरा’ जैसे शोधआत्मक आलेख इस पुस्तक के लेखन की गहराई को चरम बिंदु की ओर ले जाते हैं। मीरा की भक्ति में उस

युग में मानव मुक्ति का शंखनाद था और आज पाँच सौ वर्षों के बाद भी एक स्त्री क्या व्यक्ति के तौर पर मुक्त कही जायेगी? क्या वह मीरा की तरह मुक्ति की अकांक्षा रख सकती है? इन प्रश्नों और मीरा के संघर्षों को समेटता एक संपूर्ण आलेख इस पुस्तक में जोड़ लेखिका ने पुस्तक को अर्थवत्ता प्रदान की है।

‘अस्सी प्रतिशत स्त्रियों की कथा’ के अन्तर्गत वरिष्ठ साहित्यकार उषाकिरण खान के लेखन पर प्रकाश इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उषाकिरण खान जी ने स्त्री विमर्श पर तमाम लेखन को मात्र बीस प्रतिशत महिलाओं की कथा बताया है जबकि अस्सी प्रतिशत महिलाएँ विकास से कोसों दूर हैं, वे अपने अधिकार नहीं जानती, बस अपने कर्तव्यों की परिभाषा ही पढ़ पाती है। उषाकिरण खान का लेखन उन अस्सी प्रतिशत स्त्रियों की पहचान हैं। ग्रामीण क्षेत्र का स्त्री जीवन परेशानियों की नौका पर सदा सवार रहता है पर कुछ हद तक कई वर्जनाओं से मुक्त भी है। इस पुस्तक में उषाकिरण खान जी के उपन्यासों ‘पानी पर लकीर’, ‘गई झूलनी टूट’, ‘फागुन के बाद’ पर गहन चर्चा है। इनकी कहानियों का उल्लेख इस पुस्तक के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यहाँ यह देखना आवश्यक है कि उषाकिरण जी के विमर्श में प्रतिशोध नहीं क्योंकि इनके स्त्री पात्र अपने आप में पूर्ण दिखती हैं। स्त्री विकास यात्रा के तहत लिखी गई इस पुस्तक में अपने अलग दृष्टिकोण के साथ उपस्थित होती ग्रामीण दलित स्त्री पात्रों की व्याख्या अत्यंत आवश्यक थी।

महाश्वेता देवी का रचना संसार पाठकों को एक अनचिन्हे दुनिया की ओर ले जाता है। ‘जंगल के दावेदार’ कहानी में आदिवासियों की कठिन दुनिया का वर्णन है जहाँ नमक अपने खाने में मिलना नसीब माना जाता था। महाश्वेता देवी की

कहानियाँ हृदय को उद्वेलित कर देती हैं। उन पर यह आलेख पुस्तक का आवश्यक अध्याय है।

गहन छानबीन और आवश्यक पड़ताल करने के पश्चात् कलमबद्ध की गई इस पुस्तक में मन्नू भंडारी का कथा संसार, रोहिणी अग्रवाल की समीक्षक दृष्टि से लेकर अनामिका व पूनम सिंह की कविताओं का व्यापक विश्लेषणात्मक अध्ययन है। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान के सृजन पर व्यापक दृष्टिपात हुआ है। नई दौर की कविताओं में निवेदिता और शेफाली फ्रॉस्ट का उल्लेख सुनीता गुप्ता की सजग शोध का परिचायक है।

‘आलोचना के समानान्तर’ एक वृहद पुस्तक है। गहन अन्वेषण और शोध के बाद रचनाएँ कलमबद्ध और सूचीबद्ध की गई हैं। एक समीक्षक दृष्टिकोण की वजह से प्रत्येक आलेख में जीवटता और गहराई है। प्रत्येक आलेख किसी मोती के मनके की तरह पुस्तक की मात्र शोभा ही नहीं बढ़ा रहा है बल्कि एक आवश्यक तत्व प्रतीत होता है। इस पुस्तक की गहनता को देखते हुए कुछ और शोध आलेखों को पुस्तक में देखने की उत्सुकता बनी रहती है। ‘स्त्री लेखन के संभावनाओं’ की तलाश में यद्यपि महादेवी वर्मा के लेखन पर विस्तृत चर्चा है पर इनके गद्य और पद्य रचनाओं पर एक विस्तृत आलेख अपेक्षित प्रतीत होता है क्योंकि महिलाओं की स्थिति, मनोदशा पर महादेवी का लेखन एक लैंडमार्क है। मन्नू भंडारी के समस्त साहित्यकर्म के विस्तृत ब्यौरे पर एक संपूर्ण आलेख भी अपेक्षित दृष्टिगोचर होता है क्योंकि वह एक आधुनिक और बदलते नजरिए की स्त्री को संसार के सामने लाता।

इस पुस्तक में आलेखों द्वारा स्त्री के लेखकीय यात्रा को ही नहीं बल्कि उसके समग्र विकास को

देखने की भरपूर कोशिश की गई है। समाज प्रारंभ से स्त्री के प्रति कुंठित अवधारणा के साथ ही रहा है। मनुष्य के तौर पर पहचान पाने की उत्कंठा लेकर चलती स्त्री आज कहाँ तक पहुँची है? लेखिका इस विषय में क्या विचार रखती हैं? यह उत्सुकता का विषय है। क्योंकि यह पुस्तक साहित्य की ओट में स्त्री के मानसिक आलोड़नो, उनकी लंबी यात्रा के विभिन्न पड़ावों को साथ लेकर चली है, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक, वर्ष आदि का वर्णन करते हुए दशक दर दशक स्त्री की वस्तुस्थिति पर नजर रखी गई है तो स्त्री की एकदम आधुनिक हालिया स्थिति, साहित्य में स्वीकारे या नकारे जाने की वस्तुस्थिति, लेखन की दिशा और दशा पर वस्तुपरक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं लेखिका के अपने दृष्टिकोण का लेखकीय आलेख का एक चैप्टर पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

ऐसी शोधात्मक पुस्तक लिख कर समीक्षक और कथाकार डा. सुनीता गुप्ता ने साहित्य की दुनिया में श्रीवृद्धि की है। ऐसी पुस्तकों का लेखन लंबी और गंभीर प्रक्रिया से ही संभव है। तमाम आलेखों में गहरी और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। आलोचना की विरल दुनिया को सघन करती यह पुस्तक ‘आलोचना के समानान्तर’ साहित्य की दुनिया में अवश्य एक महत्वपूर्ण दस्तावेज साबित होगी!

समीक्ष्य पुस्तक :

आलोचना के समानान्तर

नई किताब, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण, 2021

द रेड साड़ी : सोनिया गांधी की नाटकीय जीवनी

मुहम्मद जाकिर हुसैन

लेखक जेवियर मोरो की 2008 में आई मूल स्पैनिश भाषा में 'अल सारी रोजो' नाम से आई किताब सोनिया गांधी की आत्मकथा के तौर पर प्रचारित की गई है। हालांकि हकीकत यह है कि सोनिया गांधी ने किसी किताब या आत्मकथा के नाम से कभी कोई इंटरव्यू दिया ही नहीं है।

बीते दशक में आई इस किताब को लेकर काफी विवाद हुआ था और कांग्रेस पार्टी ने इस पर आपत्ति भी की थी। लेकिन नए निजाम में यह किताब बाजार में आई। 'द रेड सारी: व्हेन लाइफ इज द प्राइस फॉर पावर' का हिंदी अनुवाद रचना भोला और बीके चतुर्वेदी ने किया है। जो 'द रेड सारी-सोनिया गांधी की नाटकीय जीवनी' के नाम से 2015 में प्रकाशित हुई है। वैसे इस किताब का नाम 'लाल साड़ी' क्यों रखा गया है? यह जानने के लिए आपको किताब पढ़नी पड़ेगी।

किताब को लेकर उठे विवाद और कांग्रेस की आपत्ति अपनी जगह है लेकिन एक पाठक की नजर से देखें तो इसमें सोनिया गांधी तो कम लेकिन इंदिरा, राजीव, संजय और मेनका से जुड़े घटनाक्रम को काफी विस्तार से दिया गया है और किताब पढ़ते वक्त इन लोगों का दौर किसी चलती हुई फिल्म की तरह आंखों में आ जाता है। किताब को जेवियर मोरो ने इस अंदाज में लिखा है, मानो सब कुछ उनकी आंखों के सामने घट रहा हो। किसी भी जिज्ञासु पाठक के लिए तो इसमें कई चौंकाने वाली जानकारियां हैं।

मसलन, आज भारतीय जनता पार्टी जिस अंदाज में काशी कॉरिडोर को भुनाने की कोशिश में लगी है या फिर भाजपा समर्थक इसे प्रचारित कर रहे हैं, वह आज के हालात में भले ही प्रासंगिक लगे। लेकिन हकीकत यह है कि करीब 45 साल पहले तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के छोटे बेटे संजय गांधी ने दिल्ली के तुर्कमान गेट से लगी बस्तियां ढहाने के साथ-साथ बनारस में काशी कॉरिडोर का निर्माण भी शुरू करवा दिया था।

वैसे हैरानी की बात यह है कि इस बारे में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को भनक तक नहीं थी और जब उन्हें पता चला तो अपने बेटे की इस 'मनमानी हरकत' से बेहद नाराज भी हुई थी। किताब में परिवार के अंदरखाने के कई किस्से भी इसमें बयां किए गए हैं, मसलन संजय गांधी की महिला मित्रों का जिक्र और मेनका से शादी की परिस्थितियां भी विस्तार से हैं। वहीं राजीव-संजय में तकरार से लेकर राजीव-सोनिया के रूमानीयत से भरे रिश्तों को भी उकेरा गया है। किताब के कुछ बिंदु जिनका उल्लेख करना जरूरी है।

परेशान इंदिरा बोलीं- हे भगवान, मुझे कोई कुछ बताता क्यों नहीं?

किताब में जेवियर मोरो लिखते हैं- पुपुल जयकर बनारस से लौटी थीं और सदमें में थी। पुपुल देख आई थी कि बनारस की गलियों को चौड़ा करने बुलडोजर प्राचीन भवनों को नष्ट कर रहे थे। पुपुल ने वहां के अधिकारी से पूछा कि आप यहां से निकलने वाले मंदिरों, देवों और छोटी पूजा वेदियों का क्या करने जा रहे हैं? उसने कहा कि हम उन्हें कहीं और रखवा देंगे। उस अफसर ने सफाई दी कि संजय गांधी इस नगर को भव्यतम व सुंदर बनाना चाहते हैं। पुपुल यहां की तबाही के फोटो लेकर दिल्ली गईं

मुक्ताचल जनवरी-मार्च 2022 112

तो इन्हें देखकर इंदिरा आगबबूला हो गई। उन्होंने तुरंत मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी से बात की। उन्हें तुरंत दिल्ली तलब किया और फिर अपना मुंह दोनों हाथों से ढांपते हुए कहा- हे भगवान, मुझे कोई कुछ बताता क्यों नहीं। सबको पता था यह आदेश संजय ने दिए थे।

मारुति को लेकर भाईयों में हुई थी तीखी तकरार, सोनिया पर भी नाराज हुए थे राजीव।

लेखक जेवियर मोरो के मुताबिक संजय गांधी की मारुति परियोजना से राजीव हमेशा बेचैन रहते थे। उन्हें डर था कि इससे मां की साख को धक्का लग सकता है। एक बार जब राजीव दौरे से लौटे तो उन्हें पता चला कि संजय ने सोनिया को राजी कर लिया है कि वह उनकी मारुति परियोजना में साझेदार के तौर पर शामिल हो जाए और इसमें राहुल और प्रियंका को भी साझेदार के तौर पर दिखाया गया। सोनिया ने इस पर हस्ताक्षर भी कर दिए थे। राजीव लौटे तो बेहद नाराज हुए। उनकी संजय से भारी बहस हुई। राजीव बोले-तुम ऐसा कैसे कर सकते हो? मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे कामों की वजह से कल को हमें भी बदनामी भुगतनी पड़े या तुम्हारी वजह से सोनिया या बच्चों को भुगतना पड़े। संजय-इसमें कोई मुश्किल नहीं आएगी। राजीव-तुम कहना क्या चाहते हो, तुम्हें नहीं लगता विपक्ष इसका जल्द पता कर लेगा। संजय-यह गैरकानूनी काम नहीं है। राजीव-हां, गैरकानूनी है और सोनिया अभी भी विदेशी नागरिक है। कानून के अनुसार किसी भी भारतीय कंपनी में भागीदार नहीं हो सकती। जब सोनिया ने गुस्से से भरे राजीव को सफाई देनी चाही तो राजीव बोले-तुम्हें एहसास भी है, तुमने किन कागजों पर दस्तखत किए हैं? उन दस्तावेजों में लिखा था कि तुम उसकी कंपनी से वेतन लेती हो, देखना हम सबको यह मारुति ले डूबेगी।

क्या इंदिरा ने संजय की लाश से घड़ी और चाबी निकलवाई थी?

संजय गांधी की मौत एक हवाई दुर्घटना में 23 जून 1980 को हुई थी। संजय की मौत के बाद दो अफवाहें आज तक जनमानस में चल रही हैं। पहली तो यह कि 'इंदिरा गांधी ने अपने बेटे को मरवाया था' और दूसरी यह कि खबर मिलते ही 'सबसे पहले पहुंच कर इंदिरा ने संजय की लाश से घड़ी और चाबी का गुच्छा निकलवा लिया था।' इन अफवाहों पर 'लाल साड़ी' में रोशनी डाली गई है। जेवियर मोरो लिखते हैं- 'कुछ लोगों का कहना था कि इंदिरा वहां अपने बेटे संजय की घड़ी और चाबी का गुच्छा देखने गई थी। घड़ी में स्विस् बैंक अकाउंट का नंबर कोड के तौर पर दर्ज है और चाबी का गुच्छा उनके अकूत धन के भंडार की चाबी है। हालांकि इंदिरा को संजय की व्यक्तिगत सामान से कोई सरोकार नहीं था और वह सब पुलिस ने पहले ही जमा कर ली थी।' किताब में इस तथ्य का भी जिक्र है कि संजय गांधी की समाधि भव्य रूप में दिल्ली में बनाए जाने का राजीव ने विरोध किया था। किताब के मुताबिक राजीव जहां विरोध कर रहे थे वहीं फारुख अब्दुल्ला सहित बहुत से मुख्यमंत्रियों का दबाव था कि शांतिवन के पास भव्य रूप से समाधि बनाई जाए। इससे कई लोगों को इसमें इंदिरा गांधी के सत्ता के दुरुपयोग की बू आई। किताब में यह भी उल्लेख है कि अकबर रोड वाले आवास के बगीचे में पेड़ के नीचे जब राजीव ने संजय गांधी की राख दबाई थी, उस वक्त पहली बार इंदिरा गांधी सार्वजनिक तौर पर फूट-फूट कर रोई थी।

राजीव-सोनिया की वसीयत, विधुत शवदाह गृह नहीं लकड़ियों से राहुल करे अंतिम संस्कार।

किताब में इंदिरा गांधी के कार्यकाल और उनकी हत्या पर काफी विस्तार से लिखा गया है। आतंकियों से जान के खतरे के बीच जी रहे एक परिवार की व्यथा को भी लेखक ने बखूबी बयां किया है। इंदिरा की हत्या के बाद की परिस्थितियों का जिक्र करते हुए किताब में उल्लेख है कि

राजीव-सोनिया ने 1984 में 19 नवंबर को इंदिरा गांधी की 68 वीं सालगिरह पर लिख कर दे दिया था कि-यदि हमारी मृत्यु भारत में कहीं भी या कहीं बाहर हो जाए तो हमारे शव दिल्ली लाए जाएं और हिंदू रीति-रिवाज के अनुसार अंत्येष्टि की जाए। किसी भी परिस्थिति में बिजली के शवदाह गृह में अंतिम संस्कार न किया जाए। हिंदू रीति-रिवाज के अनुसार राहुल हमारा दाह संस्कार करे और हमारी अस्थियां इलाहाबाद में गंगा में विसर्जित की जाए। जहां हमारे पूर्वजों की राख बिखेरी गई थी।

इंदिरा को 'खून पीने वाली काली मां' कहा था मेनका ने, परेशान राजीव ने बेटे को लिखी थी चिट्ठी, किताब में इंदिरा, राजीव व सोनिया से मेनका के रिश्तों पर भी रोशनी डाली गई है। 'लाल साड़ी' से पता लगता है कि सोनिया गांधी के विदेशी मूल का मुद्दा उनकी देवरानी मेनका गांधी ने सबसे पहले उठाया था। संजय के रहते और संजय के गुजरने के बाद मेनका के व्यवहार और उनके अपनी सास, जेठ-जेठानी से संबंध पर बहुत कुछ सनसनीखेज जैसा है।

मसलन, संजय के गुजरने के बाद किस तरह मेनका और उससे जुड़े लोगों ने प्रधानमंत्री आवास में मीडिया का जमावड़ा लगाया था और कैमरों की चकाचौंध के बीच मेनका ने यह घर छोड़ा था। संजय की दूसरी पुण्यतिथि पर मेनका को नहीं बुलाए जाने और इसके जवाब में मेनका का विधवाओं की रैली निकालने का भी ब्यौरा किताब में है। साथ ही यह भी बताया गया है कि मेनका तब ऐसे निजी पत्र सार्वजनिक कर रही थी, जिनमें राजीव की आलोचना हो। वह अपनी रैली में इंदिरा गांधी को 'खून पीने वाली काली मां' कह रही थी। राजीव उस वक्त इंदिरा और अपने विरुद्ध मेनका गांधी व अन्य के दुष्प्रचार से बेहद परेशान थे। इस दौरान राजीव ने अपने बेटे राहुल को दून स्कूल में लिखा था- कभी-कभी ये लोग तुम्हारी दादी, मां और मेरे लिए भी खूब बकवास करेंगे लेकिन तुम

कतई चिंता मत करना। हो सकता है स्कूल में कुछ बच्चे यही सब बातें लेकर तुम्हारे पीछे पड़ जाए। पर तुम्हें पता चल जाएगा कि यह सब बकवास है। तुम्हें ऐसे भड़कावे के विरुद्ध लड़ने का हुनर सीखना पड़ेगा..जो बातें परेशान करें, उनकी अनदेखी करना सीखो और इन बातों को खुद पर हावी मत होने दो।”

हत्या का था अंदेशा, दादी ने नन्हे राहुल से लिया था वादा, इंदिरा गांधी जानती थीं कि उनकी जान को खतरा है। उनकी जान कभी भी ली जा सकती है। इसका जिक्र भी वह अपने लोगों से करती थीं। किताब के मुताबिक-१९९१ इंदिरा गांधी ने अपनी सहेली पुपुल जयकर कहा था कि उनके विरुद्ध कोई तांत्रिक क्रियाएं करवा रहा है। हालांकि सोनिया गांधी समझती थी कि ऐसे विचार तांत्रिक धीरेंद्र ब्रह्मचारी के प्रभाव के चलते हैं, जिनका प्रधानमंत्री आवास बेरोकटोक आना जाना था। १९९१ आपरेशन ब्लू स्टार के बाद की परिस्थितियों पर किताब में दर्ज है- “कुछ दिनों बाद खुफिया ब्यूरो (आईबी) के डायरेक्टर ने सुझाव दिया था कि इंदिरा के आवास पर जो सिक्यूरिटी गार्ड्स हैं, उनमें सिखों को हटाकर अन्य धर्म वाले गार्ड्स की नियुक्ति की जाए। लेकिन इंदिरा ने यह कहते हुए विरोध किया कि क्योंकि यह एहतियात उनके मानने वाली राजनीतिक मान्यता के विरुद्ध होगा, जिसके अनुसार धर्मनिरपेक्ष सरकार में किसी धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं हो सकता।” हालांकि इंदिरा अपनी जान पर खतरे को लेकर आशंकित थी। किताब में एक बेहद मार्मिक प्रसंग दर्ज है। जिसके मुताबिक- “तब इंदिरा ने अपने पौत्र राहुल को करीब बुलाया और कहा-यदि मुझे कुछ हो जाए तो मैं नहीं चाहती कि तुम मेरे लिए रोओ, समझे। अब ऐसा मौका आए तो बहादुर बने रहना। क्या तुम मुझसे वादा करोगा। लड़के ने अपनी दादी की तरफ देख कर हामी भरी।” इंदिरा गांधी की हत्या के बाद परिवार की सुरक्षा व्यवस्था

में आए बदलावों का असर और राहुल-प्रियंका को स्कूल छोड़वा कर घर पर ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था किए जाने का भी ब्यौरा किताब में है।

राजीव की बात टाल नहीं सके रीगन, कंप्यूटर के ख्वाब की उड़ाई जाती थी हंसी।

राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री रहते हुए देश में कंप्यूटर क्रांति का सपना देखा था। लेकिन लोग इस सपने पर हंसते थे। इस बारे में किताब में दर्ज है- “21वीं सदी में प्रत्येक गांव के स्कूल में एक कंप्यूटर होगा, राजीव के इस दावे पर लोग हंसते थे। यह लगता था मानों किसी रईसजादे का सपना है क्योंकि तब तो गांवों में बिजली तक नहीं थी।” वैसे सुपर कंप्यूटर को लेकर राजीव गांधी और अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के बीच हुई चर्चा का भी इस किताब में ब्यौरा है। जिससे पता चलता है कि राजीव ने अपने देश की जरूरत के लिए कैसे अमेरिकी राष्ट्रपति को मना लिया। किताब के मुताबिक- “राजीव ने राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन को अपनी नीति में एक बदलाव के लिए राजी कर लिया था। उनकी नीति थी कि भारत को ऐसी प्रौद्योगिकी नहीं बेची जाएगी जो वह पूर्व के देशों को बेच सके।” लेकिन राजीव चाहते थे कि अमेरिकी सुपर कंप्यूटर भारत को मिल जाए, जिससे हम कृषि के लिए मौसम की सटीक भविष्यवाणी कर सकें। रीगन ने राजीव की बात मानी और हामी भरी।

प्रियंका को मनाने बेनजीर से बात की थी राजीव ने।

किताब में एक और रोचक प्रसंग का जिक्र है। जिसके मुताबिक- “नेहरू परिवार के बच्चे तीन पीढ़ियों से इंग्लैंड पढ़ने जा रहे थे लेकिन प्रियंका ने इससे मना कर दिया। राजीव ने इस पर बेनजीर से उस साल पेरिस में हुई मुलाकात के दौरान जिक्र किया था। राजीव को मालूम था कि अगर प्रियंका किसी की सुनेंगी तो वह सिर्फ बेनजीर की। इसलिए राजीव ने बेनजीर से अनुरोध

किया था कि वह प्रियंका को समझाए।”

मायके के दबाव के बावजूद सोनिया ने इसलिए नहीं छोड़ा भारत

इस किताब में राजीव की मौत के बाद जिन ब्यौरों को लेकर पूर्व में विवाद हो चुका है उसमें ‘काफी दूर से आई एक कॉल’ का जिक्र है। जिसमें सोनिया का मायका इस जिद पर अड़ा था कि उसे वापस आ जाना चाहिए। सोनिया ने इस दौरान अपनी मां से साफ कह दिया था- भारत ही उसका घर है और यहीं उसके सपने दबे पड़े हैं। अपनी बहन से सोनिया ने कहा-यह मेरा जीवन है और मैं इस देश को छोड़कर कहीं और नहीं बस सकती। क्योंकि वहां पर मैं सदा विदेशी ही रहूंगी। बहन ने कहा-कम से कम घर तो बदल लो। सोनिया-क्यों? तुम समझती हो यह शापग्रस्त है, यहां की प्रेस भी यही कहती है। बहन-नहीं इस बकवास पर मैं विश्वास नहीं करती। मैं तो इसलिए कह रही हूं कि इस घर में तुम्हें राजीव की याद सताती रहेगी। सोनिया-इस कारण तो मैं यह घर छोड़ना नहीं चाहती। फिर सुरक्षा के हिसाब से भी यह घर हमारे लिए मुनासिब है।

विरोध इसलिए हुआ था ‘लाल साड़ी’ का

यह किताब हालांकि 2008 में आ चुकी थी लेकिन कांग्रेस पार्टी ने औपचारिक तौर पर अपना विरोध दर्ज कराया था। इस वजह से भारत में यह किताब प्रकाशित नहीं हो पाई थी। 2010 में कांग्रेस पार्टी की ओर से लेखक जेवियर मोरो और प्रकाशक को कानूनी नोटिस भी भेजा गया था। इस किताब में नेहरू-गांधी परिवार के बारे में विस्तार से बताया गया है। इसमें मोतीलाल नेहरू से लेकर सोनिया गांधी के 2004 में प्रधानमंत्री पद ठुकराने तक के दौर का तफसील से ब्यौरा है। मोरो ने सोनिया की जिंदगी के उस दौर के वर्णन भी किया है, जब उनके पति राजीव गांधी की मौत हुई थी। किताब के उस हिस्से में मोरो ने सोनिया पर उनकी मां, उनकी बड़ी बहन अनुष्का की ओर

से पड़े कथित दबाव का जिक्र किया है। मोरो के मुताबिक, सोनिया की मां और उनकी बड़ी बहन चाहती थीं कि सोनिया भारत छोड़कर फिर से इटली के तुरीन के नजदीक मौजूद ओरबासानो कस्बे में बस जाएं। कांग्रेस के नेता अभिषेक मनु सिंघवी ने 2010 में इस किताब पर आपत्ति जाहिर की थी। तब सिंघवी ने कहा था, 'बुक में छपी बातें झूठी, अपमानजनक हैं।' कांग्रेस को उस हिस्से पर अधिक ऐतराज था, जिसमें यह बताने की कोशिश की गई है कि 1977 में इंदिरा गांधी की हार के बाद सोनिया गांधी अपने पति राजीव गांधी और बच्चों को लेकर इटली वापस जाना चाहती थीं।

डिस्क्लेमर को लेकर भी विवाद

मोरो दावा कर चुके हैं कि किताब की सभी प्रतियों के शुरुआती पन्ने पर डिस्क्लेमर लिखा हुआ है कि किताब में लिखी बातचीत और बताई गई परिस्थितियां लेखक की अपनी समझ के अनुसार है और जरूरी नहीं है कि वह सच हो। अभिषेक मनु सिंघवी ने दावा किया था कि किताब की हर प्रति में डिस्क्लेमर नहीं छपा है। 'द रेड साड़ी: व्हेन लाइफ इज द प्राइस फॉर पावर' के राइटर जेवियर मोरो ने अपनी किताब के बचाव में कहा था, मैंने अपनी किताब में पहले से ही सार्वजनिक तौर पर मौजूद आलेख और किताबों का सहारा लिया है।

सोनिया ने इंटरव्यू दिया ही नहीं और इन किताबों के सहारे लिख दी 'सोनिया की आत्मकथा'

लेखक ने सोनिया गांधी से चर्चा किए बगैर किताब लिखी है और वैकल्पिक रास्ता निकालते हुए 'द डाइनेस्टी' लेखक जैड एडम्स-फिलिप वाइटहेड, 'इंदिरा गांधीरू एन इंटीमेट बायोग्राफी' लेखिका द्वय पुपुल जयकर-कैथरीन फ्रैंक, 'इंडियन समर-द सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ द एंड ऑफ एन एंपायर' लेखक-एलेक्स वान तंजलमैन, 'लेटर्स बिटविन इंदिरा गांधी-जवाहरलाल नेहरू 1940-1964' संपादक

सोनिया गांधी, 'ट्रूथ लव एंड ए लिटिल मैलिस' लेखक खुशवंत सिंह, 'इंदिरा गांधी स्टेट्समैन स्कॉलर्स एंड फ्रेंड' लेखिका अरुणा आसफ अली, 'इंदिरा जी धु माई आईस' लेखिका-ऊषा भगत, गांधी-द इमरजेंसी एंड इंडियन डेमोक्रेसी-पीएन धर, व्हाट आई एम ड्रुइंग हियर-ब्रुस चौटविन, 'संजय गांधी' लेखक द्वय मेनका गांधी-टीएस नागराज, 'पीपल, पैशन एंड पॉलिटिक्स' लेखक मुहम्मद युनुस, इंदिरा-द लाइफ ऑफ इंदिरा नेहरू गांधी लेखिका कैथरीन फ्रैंक, 'इंदिरा गांधी लेटर्स टू एन अमेरिकन फ्रेंड' लेखिका डोरोथी नार्मन, 'सोनिया मिस्टेक' लेखिका रूपा चटर्जी, 'राजीव' लेखिका सोनिया गांधी, 'राजीव गांधी-सन ऑफ ए डायनेस्टी' लेखक निकोलस न्यूजेंट, 'इंडिया आफ्टर गांधी-द हिस्ट्री ऑफ वर्ल्ड लारजेस्ट डेमोक्रेसी' लेखक रामचंद्र गुहा और 'इंदिरा गांधी रेवोल्यूशन इन रेस्ट्रेंट' लेखिका उमा वासुदेव सहित नेहरू-गांधी परिवार लिखी अन्य किताबों-कुछ पत्रों का सहारा लिया है। वहीं इंटरव्यू के नाम पर इंदिरा गांधी की सेक्रेटरी रही ऊषा भगत से मुलाकात की है। इसके बाद सोनिया गांधी के इर्द-गिर्द के घटनाक्रम को समेटते हुए किताब के तौर पर पेश कर दिया है।

समीक्षक का परिचय- समीक्षक मुहम्मद जाकिर हुसैन एक लेखक और पत्रकार के तौर पर छत्तीसगढ़ विशेष रूप से भिलाई में सक्रिय हैं। इस्पात नगरी भिलाई पर केंद्रित उनकी दो किताबें प्रकाशित हो चुकी है। उनसे 9425558442 पर संपर्क किया जा सकता है।

किताब का ब्यौरा - 'द रेड सारी-सोनिया गांधी की नाटकीय जीवनी', लेखक : जेवियर मोरो

हिंदी अनुवाद : रचना भोला और बीके चतुर्वेदी,

पेज : 451

प्रकाशक : डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली

प्रवासी कवयित्री तिथि दानी से पूनम सिन्हा की बातचीत

पूनम सिन्हा

तिथि दानी हिन्दी एवं अंग्रेजी की युवा प्रवासी लेखिका हैं। वह ब्रिटेन के रेडिंग नामक जगह में घर खरीदकर अपने पति के साथ बस गयी हैं। वह भारत के जबलपुर से यहाँ आयी हैं। वह महत्वपूर्ण कहानीकार राजेन्द्र दानी की पुत्री हैं। अतः लेखन उन्हें विरासत में मिला है। 16-06-2019 को जब मैंने उनसे साक्षात्कार के लिए सम्पर्क किया तो उन्होंने कहा कि आप 'जहाँ ठहरी हैं उसके निकट ही मैं रहती हूँ। अतः दोपहर बाद आपसे मिलने आ जाऊँगी।' मैं तीन-चार दिनों से रेडिंग में ही अपने आत्मीय परिचित के यहाँ रुकी थी। तिथि नियत समय पर अपने पति के साथ हमसे मिलने आ गयीं। आत्मीय माहौल में उनसे मेरा संवाद हुआ।

पूनम सिन्हा : आप अपनी शिक्षा एवं अपने लेखन के विषय में बतायें।

तिथि दानी : मैं 2015 में यहाँ आ गयी थी। मैंने रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. किया। लेखन को गंभीरता से लेना मुझे अंग्रेजी ने ही सिखाया। रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय से ही मैंने जर्नलिज्म में डिग्री ली। जब मैं ब्रिटेन के मैनचेस्टर में आयी थी तो एडजस्ट करना मुश्किल लग रहा था। यद्यपि मैंने अंग्रेजी साहित्य से एम. ए. किया था, किन्तु बातचीत में यहाँ के लोगों के एक्सेंट को समझना मुश्किल था।

मैं मुख्य रूप से कविताएँ लिखती हूँ। मैं हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में कविताएँ लिखती हूँ एवं अपनी हिन्दी कविता का अंग्रेजी में अनुवाद भी करती हूँ। मध्यप्रदेश से मुझे वागीश्वरी सम्मान मिला। यहाँ उच्चायोग की 'डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंधवी अनुवाद प्रकाशन योजना' के तहत भारतीय ज्ञानपीठ से 'प्रार्थनारत बत्तखें' कविता संग्रह आया है। इसकी पांडुलिपि पर मुझे उच्चायोग से मानपत्र और 250 पाउण्ड की राशि मिली थी। इस राशि को प्रकाशन में ही खर्च करना था। न्यूनतम राशि उतनी ही थी जितनी मुझे मिली थी। मुझे पता चला कि लोग इस राशि का गलत उपयोग भी करते थे। उच्चायोग में पुस्तक की कम से कम दो प्रतियाँ जमा करनी होती हैं, जो मैंने की।

लंदन में साहित्यिक गतिविधियाँ ज्यादा हैं। किन्तु यदि आप मैनचेस्टर या उत्तरी इंग्लैंड में है तो वहाँ साहित्यिक खुराक नहीं मिलती। भारत एवं इंग्लैंड दोनों के परिदृश्य मेरी रचनाओं में आते हैं। अब मैं यहाँ के परिदृश्य पर लिखना चाहती हूँ।

पूनम सिन्हा : आपके पिता राजेन्द्र दानी मुख्य रूप से कहानीकार हैं किन्तु आप कविता की विधा में हैं?

तिथि दानी : मैं बचपन से ही कविता लिखती हूँ। मेरे पिता ने उंगली पकड़ कर मुझे लेखन क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ाया है। एक बार 'दैनिक भास्कर' के पत्रकार पापा का साक्षात्कार कर रहे थे। उस समय मैं दस साल की थी। मैंने आग्रह किया कि आप मेरी कविताएँ छापेंगे। उन्होंने मेरी कविता की कापी ले ली। 'बच्चों का कोना' में उन्होंने कई बार मेरी कविताएँ छपीं। मैंने सात साल की उम्र से लिखना शुरू कर दिया था। बहुत सालों से लगातार लिख रही हूँ। लेकिन 2018 में मेरी पुस्तक प्रकाशित हुई है। मेरी कविताएँ 'पहल' पत्रिका में भी छपती थी। जब ज्ञानरंजन जी ने मुझसे अपनी कविताएँ भेजने

का आग्रह किया तो मैं सुखद आश्चर्य से भर गयी। मुझे पापा के माध्यम से यह संवाद मिला था। लंदन आने के बाद लिखी गयी कविताएँ भी 'पहल' में प्रकाशित हुई। मैंने माँ पर कविता लिखी थी, जिसे विष्णुनागर ने 'शुक्रवार' में प्रकाशित की।

पूनम सिन्हा : क्या भारत लौट जाने का आपका मन नहीं करता?

तिथि दानी : अपने परिजनों के बीच भारत में मुझे अच्छा लगता है किन्तु वहाँ बिजली, सड़क ऑफिस की दिक्कतों को देखकर यहाँ से जाने का मन नहीं करता। यहाँ भारतीय लोग आपस में एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। पर्व-त्योहार मनाते हैं। भारत में ऐसा नहीं देखने को मिलता है। यहाँ आपस में ज्यादा अपनापा है। मैंने देखा है कि भारत में बच्चे अगर हिन्दी में बोलते हैं तो डाँट पड़ती है। एक छोटी-सी बात बताती हूँ। यहाँ भारतीय महिलाएँ भी बिन्दी लगाना पसंद नहीं करतीं। मुझे बिन्दी लगाना अच्छा लगता है तो मैं लगाती हूँ।

वैसे मैं भारत में रहूँ या ब्रिटेन में, लिखती रहूँगी। यहाँ प्रकृति मुझे बहुत आकर्षित करती है। अतः मेरी कविताओं में प्रकृति के वे बिम्ब झलकते हैं।

पूनम सिन्हा : यहाँ हिन्दी की साहित्यिक गतिविधियों के विषय में बतायें।

तिथि दानी : कथाकार दिव्या माथुर 'वातायन' नाम की संस्था के माध्यम से हिन्दी की साहित्यिक गतिविधियों को सक्रियता प्रदान कर रही हैं। यद्यपि वे सत्तर साल से अधिक उम्र की हैं। 'वातायन' सम्मान यतीन्द्र मिश्र को मिला है। वर्मिंघम में 'हिन्दी समिति' और 'वातायन' के संयुक्त तत्वावधान में कवि सम्मेलन हुआ। दिव्या माथुर इन दिनों भारत में रायपुर गयी हुई हैं। वहाँ उनपर केन्द्रित कार्यक्रम हैं।

उच्चायोग में बराबर किसी न किसी साहित्यकार को बुलाकर सम्मानित किया जाता है। वहाँ से साहित्यकर्मी आते ही रहते हैं। अभी हाल में कवि नरेश सक्सेना यहाँ आये थे। उनकी बेटी पूर्वा यहाँ थियेटर करती है। उसी सिलसिले में वे यहाँ आये थे।

अचला शर्मा बी. बी. सी. में है। वे भी सक्रिय हैं। पद्मेश गुप्त हिन्दी में कविताएँ लिखते हैं। दिव्या माथुर कहानियाँ लिखती हैं। उन्होंने उपन्यास भी लिखा है। तेजेन्द्र शर्मा भी अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। वे यहाँ के दुःख-दर्द के विषय में लिखते हैं तो पता चलता है कि जो दुनिया इतनी ग्लैमरस दिखती है उसका भी अपना दुःख-दर्द है।

पूनम सिन्हा : कविता-लेखन के अतिरिक्त यहाँ आपकी अन्य गतिविधियाँ क्या हैं?

तिथि दानी : अनुवाद का कार्य करती हूँ। हिन्दी सीखने के इच्छुक लोगों को हिन्दी पढ़ाती हूँ। फ्रीलांस पत्रकारिता करती थी। जब भारत में थी तो ऑल रेडियो, विभिन्न न्यूज चैनलों एवं समाचार पत्रों के लिए भी पत्रकारिता करती हूँ।

बरेज्का

तिथि दानी

उस दिन अनेक लोकों की यात्रा
मैंने अज्ञातकाल तक पूरी की।
जान गयी अप्सराएँ फलक से उतरती हैं
शफ़फ़ाक सफ़ेद वस्त्रों में
फिर ट्युलिप के खेतों में होली खेलती हैं
ग्रीष्म एक अनमोल वसंती रंग होता है
ठंडे देशों के ताज में

अभी आँखों ने इस मंजर को
हासिल ही किया था कि...फिर बदला यह दृश्य
कुछ ज़ियादा ही लहराई समुद्र

की लहरें गहरी नीली होकर
धीरे-धीरे तैरने लगीं नन्हीं हंसमुख नौकाएँ
जिनकी पतवार बड़ी मजबूती से थामी थीं
इन अप्सराओं के कोमल हाथों ने,
दर्शकों की निगाह में खुशियों के झिलमिलाते मोती
ठिठकाए थे
मृत्युलोक की अप्रतिम सुंदरियों ने,
वे खे रही थीं नौकाओं के साथ एकता भी
लहरों का रंग बदलते हुए रच रही थीं
अकल्पनीय सौन्दर्य और बेहतरीन समन्वय की
परिभाषा
वे विश्व के सभी सागरों की मंजिल थीं
जब इस दृश्य में मेरा दिभागी पैराशूट
पूरी तरह उतर गया तो वहाँ लार्च वृक्षों के झुंडों ने
ढँक दी समूची धरती,
तभी एक सुरीली धुन के आह्वान से खुली मेरी
आँखें
जो बललाएका और वॉयलिन का अद्भुत संगम थीं
सोच रही थी मैं...
जो देखा अभी-अभी,
और
सुना गहन, अपरिभाषित तल्लीनता में,
कोई दिवास्वप्न था?
या फिर हकीकत में बदले जाने को आतुर
एक दरखास्त
हाँ...यह यकीन को मुश्किल बनाता सच है
तमाम ज्ञात-अज्ञात संसारों की सुसंगति हैं बेरेजूका
की नर्तकियाँ।

उनका मुलायम स्पर्श पृथ्वी की थकी हुई मांसपेशियों

की मालिश है
सभी मनुष्यों को एकाकार करती हैं वे उन्हीं की
रुचियों के संसार में
हमारे अवचेतन पर धीरे से गिरते हैं उनके संकेतों के
फूल,
आँखें मलते हुए इस भौतिक संसार में उन्हें देखते
हैं
हम,
भारहीन पंखुड़ियों में बदल कर ठोस धरातल पर
तैरते,
और पृथ्वी ग्रह की परिधि से ज्यादा लंबी यात्रा
करते,
अहर्निश, धीमी सामूहिक गति से
मनुष्यता का वास्तविक अर्थ समझाते।

नोट : बेरेजूका नृत्य कला में माहिर स्त्रियों की
सामूहिक टुकड़ियाँ हैं, जिसकी स्थापना 1948 में
सोवियत संघ में हुई, जो एक प्रकार का रूसी
लोकनृत्य समझा जाता है। ये इसे एक लंबे गाउन
में प्रस्तुत करती हैं। उनकी नृत्य तकनीक ऐसी है
जिससे वे धरती पर तैरने जैसा अद्भुत सामूहिक
दृश्य अपने छोटे-छोटे कदमों से प्रस्तुत करती हैं।
अब तक की प्रस्तुतियों में पृथ्वी की परिधि से
ज्यादा चल चुकी है।

मोबाइल : 9102391841

साहित्य-संसार में चल रहे पाखंडों की पोल खोलना बहुत जरूरी है : डॉ. पंकज साहा

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपकी मातृभाषा बांग्ला थी, फिर हिंदी के प्रति आपके झुकाव का क्या कारण था ?

पंकज साहा : हमारे पूर्वज पटना सिटी से राजमहल (झारखण्ड) आये थे। उनकी मातृभाषा हिंदी थी। उस समय राजमहल बांग्ला का हिस्सा हुआ करता था। बाद में वह बिहार में चला गया, लेकिन वहाँ की राजभाषा एवं पठन-पाठन की भाषा बांग्ला और अंग्रेजी ही रही। हिंदी का प्रचलन बहुत बाद में हुआ। मेरे दादा, पिता एवं बड़े चाचा ने अंग्रेजी और बांग्ला माध्यम से शिक्षा ग्रहण की थी। मेरे पिता भाइयों में सबसे बड़े थे। मेरी माँ बंगालिन थी, फलस्वरूप मेरे घर में बोल-चाल की भाषा बांग्ला हो गई थी। मेरा अक्षर-ज्ञान बांग्ला से हुआ था और पहली कक्षा में मैं बांग्ला माध्यम का छात्र था। बिहार होने के कारण बांग्ला माध्यम से शिक्षा लेने, नौकरी प्राप्त करने में असुविधा के मद्देनजर मुझे दूसरी कक्षा से हिंदी माध्यम से पढ़ाया जाने लगा। मैंने आई.एस.सी. (11-12) तक प्योर साइंस लेकर पढ़ाई की थी। जब मैं आठवीं-नौवीं कक्षा में था, तब मैंने स्कूल के एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में किसी हास्य कवि की एक कविता का पाठ किया था, जिसकी खूब प्रशंसा हुई थी। शायद तभी मेरे अंदर साहित्य का बीज-वपन हुआ। हमारे घर में 'शौंडिक' नामक एक मासिक पत्रिका आती थी, जो दरभंगा से छपती थी। उसके संपादक डॉ. धर्मप्रिय लाल (डी.लिट.) थे। उसमें मैंने एक रचना प्रकाशनार्थ भेजी। भाषा में अनेक भूलें थीं। संपादक जी ने अशुद्धियों को सुधारकर रचना मुझे अवलोकनार्थ वापस कर दी। सही वर्तनी के लिए एक हिंदी शब्दकोश खरीदने की नसीहत भी दी। उस दिन मैंने जाना कि हिंदी का भी शब्दकोश होता है। स्कूल-जीवन से ही मेरी रचनाएँ शौंडिक के अलावा बाल भारती, बालक, चंपक, माधुरी, हमारा घर जैसी पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। शौंडिक को छोड़ अन्य पत्रिकाओं से पारिश्रमिक के रूप में 10 रु से 25 रु प्रत्येक रचना के लिए मुझे मिल जाते थे। उस समय यह मेरे लिए बहुत बड़ी राशि होती थी। इससे मेरा उत्साह बढ़ने लगा और मैं साहित्य के क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रवेश करने लगा।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपका बचपन अनेक संघर्षों में बीता है। ऐसे में शिक्षा की ऊँची डिग्रियाँ पाना एवं साहित्य में जम जाना आपके लिए कैसे संभव हुआ ?

पंकज साहा : आर्थिक दृष्टि से हमारा परिवार कमजोर नहीं था। मेरे बड़े दादा जी की जमींदारी थी। मेरे दादा डॉक्टर थे। पिताजी सरकारी नौकरी करते थे। बड़े चाचा भी डॉक्टर थे। अन्य दो चाचा भी सरकारी नौकरी पा चुके थे। सम्मिलित परिवार था। मेरे दादा समय पूर्व हार्ट अटैक से गुजर गए। जमींदारी छिन जाने के कारण बड़े दादा थोड़े विक्षिप्त हो गए थे। मेरे पिता अपने छह भाइयों में सबसे बड़े थे। घर में उन्हीं का शासन चलता था। वे कुछ सामंती मिजाज के थे। अपने दो छोटे भाइयों एवं अपने पुत्रों पर उनका बड़ा रोब था। पिताजी मुझे इंजीनियर बनाना चाहते थे, परंतु अपने हिंदी-प्रेम के कारण उनकी अनिच्छा के बावजूद मैंने बी.ए. में हिंदी ऑनर्स ले लिया। इस कारण सदा उनका कोप-भाजन बना रहा। मेरी माँ मुझे बहुत मानती थी और हमेशा ढाल की तरह पिताजी के कोप से मेरी रक्षा करती थी। साहित्य में जमने में मुझे काफी समय लगा।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपकी पहली रचना कौन-सी है? इसके बारे में कुछ बताइए।

पंकज साहा : पहली रचना के संदर्भ में सटीक बताना बहुत मुश्किल है। उपलब्ध कतरनों के आधार पर 'शौंडिक' (नवंबर, 1973) में प्रकाशित अपनी हास्य लघुकथा 'जब मैंने बदला लेना चाहा' को पहली रचना कह सकता हूँ।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : हिंदी की किस विधा में आपकी सर्वाधिक रुचि है।

पंकज साहा : उपन्यास और नाटक छोड़कर मैंने प्रायः सभी विधाओं में लिखा है। आजकल व्यंग्य-लेखन की ओर विशेष झुकाव है। एक उपन्यास लिखने की योजना बन रही है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : गुटबाजी पर आपने खूब लिखा है। आप किसी गुट में नहीं हैं। क्या यही कारण है कि आप अपनी बातों को निर्भीकता से कह पाते हैं?

पंकज साहा : गुटबाजी को मैंने कभी अच्छी नजरों से नहीं देखा। कभी कुछ अतिरिक्त की कामना नहीं की। कोई जुगाड़ भिड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। प्राप्य न मिलने पर अफसोस भी नहीं किया। यही कारण है कि मैं अपनी बात ईमानदारी एवं निर्भीकता से कह पाता हूँ।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपकी क्षणिकाएँ बहुत असरदार होती हैं। इनमें इतनी धार कैसे दे पाते हैं?

पंकज साहा : सिर्फ क्षणिकाएँ ही नहीं, मेरी भाषा ही व्यंग्यात्मक बन गई है। अगर मेरी भाषा में किसी को धार नजर आती है, तो यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है, परंतु सच तो यह है कि यह धार अनायास आती है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपकी बेटियाँ विज्ञान की छात्राएँ हैं, लेकिन हिंदी के प्रति उनमें विशेष रुचि है। क्या आपका लेखन उन्हें प्रभावित करता है?

पंकज साहा : मेरी तीनों बेटियाँ मेरे लिए लक्ष्मी स्वरूपा हैं और तीनों पर माँ सरस्वती की विशेष कृपा है। न तो उनके पठन-पाठन पर मेरा कोई दखल है और न ही मेरे लेखन का उनपर कोई प्रभाव है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आज के दौर में चापलूसी सफलता का पर्याय बन गई है। आप इससे अछूते हैं। क्या इससे आप पर कोई प्रभाव पड़ा है?

पंकज साहा : इस प्रश्न का कुछ-कुछ जवाब तो मैंने पहले दे दिया है। हाँ, यह सच है कि अगर मैं चापलूसी करता, तो अभी जहाँ हूँ उससे कुछ ऊपर अवश्य रहता।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपने कई नामचीन साहित्यकारों को उनकी गलत बयानी के कारण आड़े हाथों लिया है। क्या आपको उनसे कोई खतरा नजर नहीं आता?

पंकज साहा : मैंने यों ही किसी पर टिप्पणी नहीं की है। साहित्य-संसार में चल रहे पाखंडों की पोल खोलना बहुत जरूरी है। मुक्तिबोध ने भी कहा था-

“अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे।
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।”

प्रकाश कुमार अग्रवाल : युवा पीढ़ी के साहित्यकारों को आप किस प्रकार देखते हैं?

पंकज साहा : वजह चाहे सोशल मीडिया हो, चाहे देश-काल की परिस्थितियाँ, आज की युवा-पीढ़ी अत्यंत सक्रिय एवं उत्साही है और सब-कुछ देख-समझ रही है। परंतु अधिकांश युवा लेखक अपने कैरियर की चिंता एवं ऊपर पहुँचने की चेष्टा में लगे रहते हैं, फलतः उनके लेखन में ईमानदारी, मौलिकता एवं धार की कमी नजर आ रही है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आज अनेक साहित्यकार साहित्य के नाम पर कूड़ा फैला रहे हैं। इस पर आप क्या कहेंगे?

पंकज साहा : साहित्य में कूड़ा सदियों से प्रवेश कर रहा है। कबीरदास भी इससे बहुत दुखी थे। इस संदर्भ में उनका एक दोहा है-

“लाया कवित्त बनाय के, इत उत अक्षर काट।
कहै कबीर कब-तक जिउँ, जूठी पत्तल चाट।”

जूठन चाटने वालों एवं कूड़ा फैलाने वालों का हिसाब वक्त अपनी ओसावन-क्रिया द्वारा कर देता है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपका ‘हा! वसंत!’ व्यंग्य-संग्रह बहुत चर्चित हुआ है। इसमें क्या खास है?

पंकज साहा : ‘हा! वसंत!’ में कुल 56 व्यंग्य-रचनाएँ हैं। सबके विषय अलग-अलग हैं, जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, धार्मिक विसंगतियों, विद्रूपताओं एवं विडंबनाओं को अलग-अलग दृष्टिकोणों से उजागर किया गया है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : 'हा! वसंत!' की कौन-सी रचना आपको सर्वाधिक प्रिय है और क्यों?

पंकज साहा : किसी भी लेखक के लिए उसकी रचनाएँ संतान की तरह होती हैं। इसलिए किसी को अप्रिय नहीं कहा जा सकता है। हाँ, 'हा! वसंत!' शीर्षक व्यंग्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है। इसमें 'वसंत' एवं 'वीर भोग्या वसुंधरा' को मैंने नये अर्थों में प्रयुक्त किया है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : आपने कहानियाँ, लघुकथाएँ, कविताएँ, गजलें, हाइकुएँ आदि भी लिखी हैं, परंतु आपको प्रसिद्धि आलोचक एवं व्यंग्यकार के रूप में ही क्यों मिली? पंकज साहा : इस प्रश्न के उत्तर में मैं क्या कह सकता हूँ। लेखक का सबसे बड़ा जज पाठक होता है। शायद पाठकों को मेरे लेख एवं मेरी व्यंग्य रचनाएँ अधिक पसंद आ रही हैं।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : हिंदी-साहित्य में व्यंग्य को उपेक्षित किया गया है, ऐसे में व्यंग्य का भविष्य आप क्या देख रहे हैं?

पंकज साहा : यह सच है कि आरंभ में हिंदी-साहित्य में व्यंग्य को उपेक्षित किया गया था, परंतु सच यह भी है कि हिंदी-साहित्य में व्यंग्य की परंपरा बहुत पुरानी है। कबीरदास को प्रस्थान-बिंदु मानकर चलें, तो तब से लेकर आज तक प्रचुर व्यंग्य लिखे गए हैं। आधुनिक काल का आरंभ ही व्यंग्य-साहित्य के साथ हुआ था। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी लेखक व्यंग्य लिख रहे थे। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त आदि बाकायदा व्यंग्य के कॉलम लिखते थे। द्विवेदी युग में भी व्यंग्य लिखे जाते रहे। बहुत कम लोगों को पता है कि पंडित चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे संयत

लेखकों की रचनाओं में भी व्यंग्य-विनोद की अच्छी-खासी उपस्थिति है। 'मतवाला' के अंकों में व्यंग्य की भरमार है। प्रेमचंद की रचनाओं में भी व्यंग्य उपस्थित है। इतना होने के बावजूद व्यंग्य को एक विधा के रूप में मान्यता नहीं मिल सकी। यहाँ तक कि हिंदी व्यंग्य के सम्राट माने जाने वाले हरिशंकर परसाई द्वारा संस्थापित 'वसुधा' पत्रिका में भी व्यंग्य को स्थान नहीं मिलता था। परसाई जी की रचनाएँ निबंध या लेख शीर्षक के अंतर्गत छपती थीं अन्य पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य किसी कोने में सिमटा हुआ नजर आता था। परंतु धीरे-धीरे स्थिति बदली। आज प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य को सम्मानित स्थान मिल रहा है। अनेक पत्रिकाओं के व्यंग्य केंद्रित अंक या व्यंग्य विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। कुछ पत्र तो रोज व्यंग्य प्रकाशित कर रहे हैं। देश एवं विदेशों में भी अनेक लेखक व्यंग्य-रचना कर रहे हैं। व्यंग्य-लेख, व्यंग्य-कथा के अलावा उपन्यास, नाटक जैसी विधाओं में भी व्यंग्य-साहित्य की रचना हो रही है। कुल मिलाकर हिंदी-साहित्य में आज व्यंग्य को रिकॉग्नाइज किया जा रहा है, उससे व्यंग्य का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल नजर आ रहा है।

प्रकाश कुमार अग्रवाल : मैं आपका हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ कि आपने मेरे प्रश्नों का उत्तर इतनी आत्मीयता के साथ दिया। आप एक निर्भीक, दृढ़ संकल्पी और मानव-मूल्यों के संरक्षक साहित्यकार हैं। आपके व्यक्तित्व का आपकी रचनाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। आप स्वस्थ रहें और यूँ ही निरंतर साहित्य-सृजन करते हुए समसामयिक समस्याओं और चुनौतियों को अपनी रचनाओं में उजागर करते रहें। हृदय से बहुत-बहुत साधुवाद।

पंकज साहा : इतने सुंदर प्रश्न करने के लिए आपका भी बहुत-बहुत धन्यवाद।

इस पार तक

मुक्तिबोध

(13 नवंबर 1917 - 11 सितंबर 1964)



युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-संबंधों के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे सामने विशेष रूप से दो प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह, जिसमें युग - प्रवृत्तियों से संचालित नियंत्रित होते हुए भी, साहित्यकार सचेत रूप से उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों का विकृत - असंस्कृत प्रतिबिंब ही लिए रहता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमें उन युग प्रवृत्तियों के वास्तविक अभिप्राय, गर्भितार्थ तथा उनके निर्माणकारी अथवा विनाशकारी आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है, और वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है।

- कामायनी पुनर्मूल्यांकन

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

स्मृतिशेष



मन्नू भंडारी

2 अप्रैल 1931 - 15 नवंबर 2021



लता मंगेशकर

28 सितंबर 1929 - 6 फरवरी 2022



रमा जोशी

30 जून 1939 - 17 फरवरी 2022

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा